

कोसल KOSALA



JOURNAL

of

The Indian Research Society of Awadh

FAIZABAD

Volume 2.

July 1979 & January, 1980

No. II & III

कोसल KOSALA

JOURNAL

of

The Indian Research Society of Avadh

FAIZABAD

Board of Editors

Dr. J. P. Sinha	Chief Editor
„ Swami Nath Pandey	Co-Editor
„ Gauri Shankar Tiwari	„
Sri Rama Shankar Mishra	„
Dr. C. S. Singh	„
Sri P. N. Pandey	„
Dr. Hausila Prasad Singh	Managing Editor



Published by :

The Indian Research Society of Avadh.

1222, Delhi Daravaza,

Faizabad-224001

INDIA.

Subscription Rates :

Annual Rs. 20.00 or S 7.50

Single Number Rs. 10.00 or S 3.75

Back Numbers Rs. 15.00 or S 5.00 each.

Printed By :

Sri Sita Ram Srivastava

Oudh Printing Press,

Rekabganj,

FAIZABAD.

शुभकामनायें तथा सम्मतियाँ

मैंने 'कोसल' नामक The Indian Research Society of Ayadh के रिसर्च जर्नल को देखा। उसमें अच्छे-अच्छे लेख विविध विषयों पर प्रकाशित हैं। मैं आशा करता हूँ कि यह पत्रिका चिरस्थायी सिद्ध होगी और उसको पढ़ने वाले अच्छी संख्या में होंगे। यह पत्रिका अवध विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है, जो एक नया विश्वविद्यालय है। इस स्तर की पत्रिका के प्रकाशन से विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, जो सर्वथा वांछनीय है। एक पत्रिका का संचालन कठिन काम है क्योंकि इसमें अनेक व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है। मैं आशा करता हूँ कि अपेक्षित सहयोग आसानी से उपलब्ध होगा और जिन विद्वानों ने इस पत्रिका का उपक्रम किया है, उनका प्रयास सर्वथा सफल होगा।

भूतपूर्व कुलपति
लखनऊ वि० वि० तथा
संस्कृत वि० वि० वाराणसी।

को-अ. सुब्रह्मण्य
अध्यक्ष

'कोसल' का अपना अतीत तथा ऐतिह्य है, जिसके लिये हमें गर्व है। रवीन्द्रनाथ की एक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ यों हैं—

कोसल नृपतिर तुलना नाइ, जगत् जुड़ि यशोगाथा,
क्षीणेर तिनि सदा शरण ठाई, दीनेर तिनि पिता-माता।

अर्थात् कोसलराज की कोई तुलना नहीं है। विश्व में उनका यशोगान फैला हुआ है। क्षीणों के आश्रयदाता तो दीनों के जनक-जननी-स्वरूप हैं। अतीत का कोसल दीन-दुखियों का आश्रय-स्थल था और आज की 'कोसल' विद्वानों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और महान् चिकित्सा शास्त्रियों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का आश्रय या प्रकाश स्तम्भ बनना चाहती है। इस महान् कार्य में सफल होते देखकर फिर से हम अपने को गर्वित पायेंगे, इसका पूरा भरोसा हमें है।

कोसल की भावी सफलता के लिये आन्तरिक शुभकामना, सहयोगिता की भावना तथा सहमति निरन्तर बनी रहेगी।

—राम बहाल तिवारी, १७, रतन पल्ली विश्वभारती, शान्ति निकेतन।

'इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध' द्वारा प्रकाशित होने वाली शोध-पत्रिका 'कोसल' के प्रथम अंक और द्वितीय अंक की कुछ सामग्री को देखने का अवसर मिला। देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। प्राचीन भारतीय इतिहास और कला के विविध अंगों पर विविध दृष्टियों से प्रकाश डालने वाली शोध-पत्रिकायें सदैव स्वागत योग्य हैं। 'कोसल' का अभी शैशव है। मेरा विश्वास है कि जैसे यह पत्रिका आगे बढ़ेगी इसमें कलाकृतियों के चित्र आदि भी प्रचुर मात्रा में देखे जा सकेंगे। यह भी हर्ष का विषय है कि राष्ट्र-भाषा के साथ-साथ इसमें संस्कृत और अंग्रेजी में भी लेख प्रकाशित हो रहे हैं। शोध-पत्रिका का संचालन एक गुह्यतर कार्य है। मैं चाहूँगा कि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये जिन विद्वानों ने कंकण बाँधा

है उन्हें अवध विश्वविद्यालय तथा उत्तर प्रदेश शासन का भी सक्रिय आशीर्वाद प्राप्त होगा। मैं 'कोसल' के उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामना करता हूँ।

—डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, उ०प्र०।

'दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध' की पत्रिका 'कोसल' देखकर परम प्रसन्नता हुई। इसके उच्चस्तरीय लेख इसकी उपयोगिता और उपादेयता को प्रमाणित करते हैं। मैं आपके सद्प्रयास की सराहना करता हूँ। मेरा विश्वास है कि निकट भविष्य में यह महत्वपूर्ण शोध-पत्रिका बन सकेगी। आपके परामर्शदाताओं की सूची आकर्षक तथा प्रभावशाली है। आप निःसन्देह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे। मैं इस पत्रिका की सफलता की हृदय से कामना करता हूँ।

प्रो० ध्यान्मथ शर्मा

साकेत, ८/१३१, आर्य नगर कानपुर।

'कोसल' शोध-जर्नल की एक प्रति प्राप्त हुई। शुभारम्भ सन्तोषजनक है और आपके उत्साह एवं प्रयास से यह अपेक्षित स्तर पर कायम रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ सदैव रहेंगी।

नि० म० दि० २२/५

भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी-विभाग, बी० एच० यू०, वाराणसी।

'कोसल' का प्रथम अंक मिला। कोसल जनपद का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व है। मध्य-देश का हृदय होने से इसने राष्ट्र के उत्थान-पतन के विविध दृश्य देखे हैं। 'कोसल' अपनी प्राचीन सम्यता तथा संस्कृति को उजागर करेगा और इतिहास तथा साहित्य के भूले पृष्ठों को अपनी नवीन शोध-सामग्री से पुनः जनता के सम्मुख प्रस्तुत करेगा।

वि० दत्त शर्मा

ई-६। एम०आई०जी०-७, अरेरा कालोनी, भोपाल, म०प्र०।

'कोसल' शोध-जर्नल का प्रथम अंक प्राप्त हुआ। शोध-जर्नल लघुकाय होते हुए भी उपयोगी सामग्री से युक्त है। उत्तर प्रदेश के एक विशिष्ट क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाला यह शोध-जर्नल चिर-जीवी होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—प्रो०-कृष्ण दत्त बाजपेयी

भूतपूर्व प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सागर वि० वि०, म०प्र०।

‘दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध, फैजाबाद’ के लिये मेरी समस्त शुभकामनायें हैं। मैं स्वयं खोज रहा हूँ कि अवध-क्षेत्र में रिसर्च का विस्तार कितना है और इसके अर्धवार्षिक अंक में मैं चाहूंगा कि यह मार्ग निर्देशन हो कि भविष्य में यदि अवध विश्वविद्यालय की ओर से एक उच्चस्तरीय पत्रिका निकले तो उसका गुणात्मक स्तर क्या हो। मेरी प्रसन्नता तो तब होगी जब यह सोसाइटी अपनी पत्रिका के माध्यम से जन-जन को यह बताये कि अवध-क्षेत्र में कौन-कौन सी रिसर्च स्कीम हैं और वे किन विषयों में काम कर रही हैं तथा उनकी देन का भविष्य क्या होगा। किसी भी क्षेत्र में बौद्धिक उत्थान के प्रथम चरण में यह परिलक्षित किया जाता है कि उस क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परायें क्या रही हैं। उसके बाद ही साहित्यिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों की बारी आती है। मैं समझता हूँ कि हमको इस शोध-पत्रिका के माध्यम से मार्ग-दर्शन मिलेगा।

उ. प्र. मेडलिया

कुलपति, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद।

‘कोसल’ की प्रति मिली। बहुत ही श्रेयस्कर प्रयास है। शैक्षिक गतिविधि, इसी का नाम है। शोध-पत्रिका में विविध विषय सम्बन्धी तथ्यपूर्ण लेख प्रकाशित हुये हैं, जो उपादेय और स्तरीय हैं।

गोपी नाथ तिवारी

भूतपूर्व प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर वि० वि०, गोरखपुर, उ०प्र०।

राष्ट्र को प्रबोध प्राप्त कराने का जो कार्य भगवान् ने आप लोगों के कंधे पर डाला है, उसे पूर्ण करके आप यशस्वी और कृती हों—इस सद्भावना के साथ ‘कोसल’ का प्रियदर्शी मैं—

उपाध्यक्ष शर्माजी

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, तथा अधिष्ठाता, कला संकाय, सागर विश्वविद्यालय, म०प्र०।

शोध-पत्रिका (कोसल) का प्रथम अंक मिला। यह अंक पढ़कर परम प्रसन्नता हुई। विश्वास है कि भविष्य में आप इसी उच्च स्तर की पत्रिका निकालेंगे। इस परम पवित्र ज्ञान-यज्ञ में दीक्षित होकर आप सभी सहृदय बिद्वान् मेरी सात्विक श्रद्धा के उदात्त समाश्रय हैं।

लक्ष्मीकान्त शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

बधाई हो शतशः 'कोसल' के लिये । अत्यन्त सराहनीय प्रयास है । मैंने उसमें प्रकाशित लेखों को पढ़ा । बहुविध विषयों पर लिखे शोध-लेख बड़े ही सुन्दर और उच्चकोटि के हैं । ऐसी पत्रिका का प्रकाशन अनिवार्य था । आर्यदेश के हृदयस्थल से सांस्कृतिक भाषा का निनाद परमावश्यक था । मेरी यह सलाह है कि अवध-क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर को ही पत्रिका के प्रकाशन का विषय बनाया जाय । शोध-वाणी (कोसल) सकल हो, हर तरह से, यह मेरी शुभ और स्वस्थ कामना है ।

ललिता प्रसाद भाण्डेय

अध्यापक, इतिहास विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप सबने मिलकर 'दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध' की स्थापना की है तथा उसके तत्त्वावधान में 'कोसल' नामक शोध-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया है । पत्रिका सुन्दर तथा अत्यन्त उपयोगी है । इससे भारतीय विद्या के क्षेत्र में साधना-रत विद्वानों को लाभ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

रवीन्द्र मिश्र

रीडर, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद ।

शोध-पत्रिका 'कोसल' अवध क्षेत्र की सार्थक नामवती पत्रिका है । इसका उच्च स्तर स्पृहणीय कीर्ति का अधिकारी है । प्राच्यविद्या को इससे बड़ी आशाएँ हैं । मैं इसके उज्ज्वल भविष्य की शुभकामना हृदय से करता हूँ ।

डॉ० क० प्र० श्रीवास्तव

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, वी० एस० एस० डी० कालेज, कानपुर, उ०प्र० ।

'कोसल' जर्नल का प्रथम अंक देखा । बहुत अच्छा लगा । विद्या के क्षेत्र में जहाँ कहीं भी कोई सृजनात्मक प्रयास हो, वह स्तुत्य है । कोसल जनपद भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा है । इस पत्रिका को आप यदि इस संस्कृति से जोड़े रख सकें तो अपने आप में यह एक महनीय उपलब्धि होगी । आशा है आगामी अंकों में पत्रिका का स्वरूप और निखरेगा ।

-डा० नवजीवन रस्तोगी, अभिनवगुप्त संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

अनुक्रम

I	Editor's Note	
II	लेख (Articles)	
१	अधोरेश्वरभगवद्रामविजयम्—डा० सत्यव्रत सिंह, भूतपूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि० वि०, वाराणसी	१
२	मानस में विशेषण प्रयोग—डा० गोपीनाथ तिवारी, भूतपूर्व प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय	२
३	वाररुचि ब्राह्मण व्याकरण सूत्रों के संरक्षण में मामह का योगदान—डा० मोतीलाल रस्तोगी, रीडर, संस्कृत-विभाग, लखनऊ वि० वि०	६
४	अवध की नृत्य परम्परा—डा० पुरु दाधीच, प्राचार्य, मातखण्डे हिन्दुस्तानी संगीत महाविद्यालय, लखनऊ	१८
५	चित्त : व्यापार : उनका निरोध—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, रीडर, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद	२२
६	बदरीनाथ ताम्रपत्र का चन्द्रगुप्त—डा० मदनचन्द्र मट्ट, अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, राजकीय पी०जी० कालेज गोपेश्वर, चमोली	२७
७	युद्ध एव शृंगार का सम्मिश्रण—डा० लल्लन जी सिंह, सैन्यविज्ञान विभाग, विरला कालेज, गढ़वाल वि० वि०, श्रीनगर	३२
८	गुप्तों का वर्ण : पुनर्विचार—विमल चन्द्र शुक्ल, प्रचीन इतिहास-विभाग, सी० एम० पी० कालेज, इलाहाबाद	३५
९	वैशेषिकदर्शने श्रीधरस्य न्यायकन्दली—डा० सत्यनारायण मिश्र, संस्कृत-विभाग, एम० एल० के० कालेज, बलरामपुर, गोण्डा	४१
१०	वैदिक कालीन दासों के अमिज्ञान की समस्या—डा० गोरखनाथ, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गोरखपुर वि० वि०	४३
११	मानस-दीक्षा—डा० श्रीकृष्ण उपाध्याय, हिन्दी-विभाग, साकेत कालेज, फैजाबाद	४८
१२	आदित्यों की यात्रा : भारत से अरब इस्राईल तक—डा० असहाब अली, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर वि० वि०	५१
१३	दसवीं सदी में स्पेन में शिक्षा का स्तर—डा० के० के० रस्तोगी, अरबी भाषा-साहित्य विभाग, लखनऊ वि० वि०	५६

- १४ फ़ैजाबाद-अयोध्या नगर के सन्दर्भ में नगरीय यातायात का भौगोलिक अध्ययन—गणेश कुमार पाठक
शोध-छात्र (भूगोल), बी० एच० यू०, वाराणसी ९०
- १५ महाकवि वत्सराज की नाट्यशैली—राम जियावन पाण्डेय,
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, टी० एन० डिग्री कालेज, टांडा, फ़ैजाबाद ७३
- १६ हिमाचल में शैव धर्म का विकास—डा० लालता प्रसाद पाण्डेय,
अध्यक्ष, इतिहास विभाग, हिमाचल प्रदेश वि० वि०, शिमला ८०
- १७ Dohada : Its Depiction in Indian Sculpture—Tahasildar Singh,
Research Asstt. American Institute of Indian Studies,
Chief Court House, Ram Nagar, Varanasi. ८६
- १८ चम्पूकाव्यों में लालित्यविधान—डा० राम व्यास त्रिपाठी,
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, डिग्री कालेज परधिया आश्रम, फ़ैजाबाद ८०
- १९ संगीत तथा नृत्य का उद्भव एवं विकास—अम्बिका प्रसाद सिंह, शोध-छात्र
(प्राचीन-इतिहास), अवध वि० वि०, फ़ैजाबाद ८३
- 20 Tripura School of Agamic Thought—Hira Ballabh Pandey,
Head, Sans. Deptt., Govt. P.G. College, Gopeshwar, Chamoli. 98
- 21 Devaluation : A Game of Deficit-Finance—M.L. Sharma,
Deptt. of Economics, Saket P.G. College, Faizabad. 106
- 22 प्राचीन भारतीय नारियों की लोकप्रिय क्रीडायें—आशा त्रिवेदी,
शोध-छात्रा, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, अवध वि० वि०, फ़ैजाबाद 111
- 23 Family Planning and Values—Dr. R. K. Katiyal,
Sociology Deptt., Saket P.G. College, Faizabad. 118
- 24 The Concept of God-A Scientific Interpretation—Prof. G. Anand,
Electrical Deptt., B.E. College, Howrah, Calcutta. 124
- 25 Space Communication—Prof. S.S. Boral,
Electronic & Telecom., Engg. Deptt., B.E. College, Howrah, Calcutta. 126
- 26 Relationship Between Available Phosphorus and some Physico-Chemical
Properties in Soils—L.P. Verma & A.P. Singh,
N.D. University of Agriculture & Technology, Faizabad. 132
- 27 Effect of Cycocel on Yield and Quality Characters of Soyabean—Ranjeet
Singh & O.N. Mehrotra, N.D. University of Agriculture & Technology,
Faizabad and C.S. Azad University of Agri. & Tech., Kanpur. 135

28 Presence of Protozoan and Bacterial Fauna in the Alimentary Canal of *Aulacophora foveicollis* (Lucas) Coleoptera : Chrysomelidae—J.P. Singh, Zoology Deptt., Saket P.G. College, Faizabad. 138

29 Effect of Maleic Hydrazide (MH) on Amino Acid Metabolism of *Spirodela Polyrhiza* — S.R. Yadava, Botony Deptt., Saket P.G. College, Faizabad. 139

III ग्रन्थ-समीक्षा (Book Reviews)

१ लक्ष्मीतन्त्र : धर्म और दर्शन—डा० अशोक कुमार कालिया : डा० नवजीवन रस्तोगी १४५

२ दिव्यावदान में संस्कृति का स्वरूप—डा० श्याम प्रकाश : डा० मंगलदेव शास्त्री १४६

३ वैदिक स्वर अवधारणा—डा० पारस नाथ त्रिपाठी : डा० विद्यानिवास मिश्र १४७

४ शाङ्करवशंते स्वात्मनिष्ठाणम्—डा० सत्यनारायण मिश्र : प्रो० एन० के० देवराज १४८



Editor's Note

It is our proud privilege to present the second Volume of the 'Kosala' to the world of scholars. It is indeed gratifying to note the response it has received from them. The Journal in its infancy needs the tender care, encouragement and guidance of all its wellwishers.

The present volume contains interesting articles on a variety of subjects. They are from the pen of the scholars who are specialists in their respective fields. It also contains some book-reviews. As Chief Editor of the Journal it does not lie in my mouth to say any thing regarding the standard of the Journal. I can only reproduce the words of the great poet Kalidasa,

‘आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्’

I am fully aware of the drawbacks in the Journal and assure the scholars, with all the modesty at my command, that all of them will be removed in due course of time. It is proposed to bring out the Journal annually and in two parts. Part I will comprise the articles on Languages, Social Sciences and Humanities and Part II will be related to Science and Technology. Parts I and II will be brought out in the months of January and July respectively every year. It will contain, besides the research articles, editions of hitherto unpublished or out of print works in Sanskrit, book-reviews and a 'who's who' about the contributors. Certain improvements are also contemplated to make the Journal more handy and presentable from the next year.

I am grateful to the scholars who have sent their messages of good wishes for the success of the Journal. I shall be failing in my duty if I do not put on record my great appreciation for my Co-Editors, who have toiled and moiled to bring out the Journal in time and helped me a greatdeal in maintaining its standard. In all humility I personally own the short-comings, if any and crave the indulgence of the scholars.

J. P. Sinha
Chief Editor

अघोरेश्वरभगवद्रामविजयम्

(चम्पूमहाकाव्यम्)

श्रीसर्वेश्वरीस्तुतिः

—डा० सत्यव्रतसिंहः

वेदमयिति यस्याः किमपि सुमधुरं नाम गीतं निकामं
चिन्तातीतं च यस्याः किमपि निरुपमं रूपमुक्तं पुराणैः ।
लीलेश्वर्यं च यस्याः निरवधिनिपुणं कीर्तितं सर्वतन्त्रै-
र्देवी सर्वेश्वरी सा भवतु भगवती शर्मदा नः प्रसन्ना ॥१॥

वेदज्ञा यां निराहुः प्रकटितविभवां चिन्मयीं ब्रह्मशक्तिं
यां वा शैवागमज्ञाः परमशिवमयीं चिच्चमत्कारलीलाम् ।
तन्त्रज्ञा वैष्णवा वा श्रियममृतमयीं श्रीनिवासैकरूपां
देवीसर्वेश्वरी सा प्रतिजनि कुरुतात् सेवकाग्रः स्वकीयान् ॥२॥

यामेके वाङ्मयानां प्रभवविभवयोजनमदात्रीं वदन्ति
वर्णानां मातृकां वा विमृशरसुषमां विश्ववाग्वर्णकानाम् ।
तत्तद्वाच्यार्थसम्पत्समुदयजननीं यां बुधाश्चामनन्ति
देवी सर्वेश्वरी सा विहरतु सुखदा मन्मनोरंगपीठे ॥३॥

या मेधा ब्रह्मदीप्तिस्तपति दिविभुवि प्रार्थिता देवसङ्घ-
र्याश्चन्द्रा कर्मदीप्तिः प्रभवति मनुजान् यज्ञमार्गे विनेतुम् ।
तेऽपि द्वे यां न वेत्तुं प्रभवत इति या चिद्घनानन्तरूपा
देवी सर्वेश्वरी सा दलयतु तरसा मन्मनोमोहनिद्राम् ॥४॥

चन्द्रे या चन्द्रिका या रुचिरतनुरुचिस्तिग्मरोचिष्यनन्ते
याऽकाशेऽनन्तता या दहति च दहने या च वाते प्रवाति ।
स्वादश्रीयार्जले या धृतिरपि धरणी या हि विश्वात्मरूपा
देवी सर्वेश्वरी साऽङ्कुरयतु हृदये नः सदा भक्तिबीजम् ॥५॥

देवीं यामन्तरा नो प्रभवति भगवान् शंभुरीशोऽथ विष्णु-
र्ब्रह्मा वा वर्तितुं या प्रभवति परमाद्वैतचैतन्यशक्तिः ।
शक्तानेतान् विधातुं निजबलमहिमांशांशिकासंविभागात्
देवी सर्वेश्वरी सा निरुपधिकरूपा पातु नः शक्तिपातैः ॥६॥

यां द्रव्यादिप्रभेदैः परिकलनसहं गीतमीया ब्रुवन्ति
काणादाः पञ्चभूतान्तरपरिलुठितानन्तज्योतिष्कगान्ताम् ।
सांख्याः शश्वत्स्थितां यां प्रकृतिमथपुनर्मातृकां विकृतीनाम्
देवी सर्वेश्वरी सा सफलयतु सदा मत्समीहामनीहा ॥७॥

भाट्टाः प्राभाकरा वा निरतिशयमुखां स्वर्गसम्पत्तिलीलां
बौद्धा निर्वाणदुःखामनुपमितमुखां यां च नैरात्म्यलक्ष्मीम् ।
जैना यां वां जिनानां श्रियमनुपमितां वर्णयन्तोऽप्यनृप्ताः
देवी सर्वेश्वरी सा विलसतु निभृतं सम्मुखीना सदा नः ॥८॥

यां देवीं निर्विशेषाद्वयनयनिपुणाश्चिद्बिलासैकभूमिं
नाम्नाऽविद्यां विशिष्टाद्वयनयनिपुणा वा परब्रह्मलीलाम् ।
द्वैतत्रयान्तनिष्ठा जगदुरथबुधाः श्रीमतीं विष्णुशक्तिं
देवी सर्वेश्वरी सा व्यपनयतु तमोऽस्मद्बहुदन्तदुरन्तम् ॥९॥

आत्मन्यास्था न येषां विषयसुखमुखप्रेक्षिणश्चैव ये वा ।
चार्वाकास्तेऽपि यस्याः प्रतिविषयसुखं व्याप्तिभूतिविदन्ति ।
संश्रित्यान्यां व्यपेक्षामनुपममहिमाऽतो हि यस्याश्चकास्ति
देवी सर्वेश्वरी सा लघयतु दययांहांसि नः शर्मदात्री ॥१०॥

याऽचिन्त्यानन्तशक्तेर्जयति पशुपतेर्दृक्क्रियाशक्तिरूपा
यां वा नित्यम् प्रपन्नाः परिभवितुमलं दुःखमूलं मलञ्च ।
यस्याः कोऽपि प्रभावः पशुमपि कुरुते पारमैश्वर्यपूर्णं
देवी सर्वेश्वरी सा ह्यशरणशरणा जायतां नः शिवाय ॥११॥

अद्यत्वे याऽणुशक्तिह्यघटितघटना ताण्डवम् नाटयन्ती
तत्तत्सांहारिकास्त्रं स्त्रिपुरविजयिनं विस्मितास्यं विधत्ते ।
साऽप्यंशीभूययस्थाः प्रभवति महिमानं जगद्व्यशुवानं
देवी सर्वेश्वरी सा प्रहरतु दुरितौघेषु नश्चण्डहासा ॥१२॥

यस्याः सौन्दर्यमात्रां कविकुलगुरुणा कालिदासेन क्लृप्त्वा
काव्ये नाट्ये च सृष्टांस्त्रिभुवनरमणीनायिका नायिकास्ताः ।
या सौन्दर्याधिदेवी जगति च सकलं सुन्दरं यद् विभूति-
र्देवी सर्वेश्वरी सा सकलकविनुता सौमनस्याय नः स्यात् ॥१३॥

यां देवीं रामकृष्णो निजहृदयमहापीठमध्यप्रतिष्ठां
द्रष्टुं नित्यम् व्यपीदद् बहिरपि निजकैश्वर्यमार्गैरेव नेत्रैः ।
तस्मै संदर्शयन्ती निजमतिरुचिरम याप्यनुष्यन्मुखाब्जं
देवी सर्वेश्वरी सा प्रकटयतु पुरोऽस्माकमप्यात्मरूपम् ॥१४॥

मानस में विशेषण-प्रयोग

—डा० गोपीनाथ तिवारी

इजरा पाउड ने हैरियट मनरों की १५ जनवरी १९१५ दे एक पत्र में काव्य कला के पाँच वैशिष्ट्य बताये हैं, ये हैं—संक्षिप्तता, कम से कम शब्द प्रयोग, एकाग्रता, तटस्थता और विशेषण प्रयोग है। [इजरा पाउड, एंक्रिटिकल ऐन्थेलोजी, संपादक जे० पी० सलीवेन, पृष्ठ ५७-५९]। काव्य कला, शब्द प्रयोग में निहित है। भारतीय मनीषियों ने तो शब्द और अर्थ को ही काव्य की संज्ञा प्रदान की है —

ननु शब्दार्थौ काव्यम् [रुद्रट]

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् [भामह]

अदोषौ सगुणौ सालंकारी च शब्दार्थौ काव्यम्
[हेम चन्द्र]

गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्
[विद्यानाथ]

आचार्य जगन्नाथ शब्द और अर्थ में शब्द को महत्त्व प्रदान करते हुये कहते हैं — रमणीयार्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्द ही काव्य हैं— “रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्”। अनेक पश्चिमी मनीषियों ने भी कविता में शब्द को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

सर्वोत्तम व्यवस्था में सर्वोत्तम शब्द प्रयोग ही कविता है [कोलरिज]। उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट संयोजन ही कविता है [इलियट] काव्य कृति शब्द संयोजन है। शब्द संयोजन और शब्दों के पारस्परिक संबंध में ही काव्य का महत्त्व निहित है, [इजरापाउड] कविकी प्रतिभा और क्षमता की कसौटी उसके द्वारा किया जाने वाला शब्द प्रयोग है, न कि वस्तु की मौलिकता। [उल्ब्यू० एच० आडेन]

कविता के अर्थ का विश्लेषण कवि की चिन्ता और दायित्व का विषय नहीं है। अर्थ का विश्लेषण और

अर्थ की खोज दूसरों का काम है। कवि का दायित्व केवल शब्दों तक ही सीमित है। [डायलन टामस]

शब्द प्रयोग-सौन्दर्य में संज्ञा और क्रिया से अधिक महत्त्वपूर्ण है विशेषण प्रयोग। कविता में यह भी महत्त्वपूर्ण है कि स्त्री के लिये स्त्री, महिला, नारी, प्रमदा, अवला, वामा, कामिनी आदि में कौन सा शब्द रखा जाय किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि किस विशेषण का प्रयोग किया जाय जो स्त्री नारी के प्रासंगिक व्यक्तित्व को पूर्णतया प्रस्फुटित कर दे अथवा उसके रूपाकार को स्पष्ट कर दे। सभी कवि विशेषणों का प्रयोग करते हैं। जो कवि जितनी सबलता, प्रौढ़ता और सजीवता से विशेषणों को प्रयुक्त करता है, वह उतना ही उत्कृष्ट कवि है। कबीर की अपेक्षा जायसी ने अधिक विशेषण अपनाये हैं। जायसी से अधिक सूर ने विशेषणों का प्रयोग किया है। तुलसीदास इस क्षेत्र के प्रतापी सम्राट हैं। विशेषणों के प्रयोग में हिन्दी का अन्य कोई भी कवि उन्हें नहीं छू पाता है।

गोस्वामीजी का शब्द प्रयोग-कला-दाक्षिण्य; विशेषण प्रयोग में दर्शनीय है। मध्यकालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रवृत्ति, विशेषण प्रयोग में सबसे आगे है। वाल्मीकि में विशेषणों के प्रयोग की यह प्रवृत्ति इतनी अधिक मात्रा में नहीं है। वाल्मीकि विशेषणों का प्रयोग यत्र-तत्र करते हैं किन्तु गोस्वामी जी की विशेषणों की अबाध सरिता कहाँ नहीं बही है। अध्यात्म में विशेषण प्रयोग की प्रवृत्ति है किन्तु गोस्वामीजी ने इस क्षेत्र में अध्यात्म को भी पीछे छोड़ दिया है। भगवान् राम के साथ गोस्वामीजी विशेषण जड़ते जाते हैं। स्तुतिधों में तो विशेषणों की वर्षा होती है। विनयपत्रिका और रामचरितमानस में यह प्रणाली विशेष रूप से प्रतिष्ठित है। विनयपत्रिका में राम की स्तुतिविषयक पदों की संख्या अधिक है,

उसमें १६६ विशेषण प्रयुक्त हैं । शिवस्तुति की पद संख्या १२ में ३५ विशेषणों को स्थान मिले हैं । मानस की स्तुतियों में भी यह वैशिष्ट्य है । ब्रह्मास्तुति (मा० ६-१११) के ११ छन्दों में ६५ विशेषण, वेदस्तुति (मा० ७-१२) के ६ छन्दों में ५० विशेषण, और शिवस्तुति (मा० ७-१४) के १० छन्दों में ५२ विशेषण तथा गङ्गाराजस्तुति (३-३२) के ४ छन्दों में ४५ विशेषण तथा अत्रि-स्तुति (मा० ३-४) और शिवस्तुति (मा० ७-१४) में क्रमशः ४२ तथा ५२ विशेषण प्रयुक्त हैं । स्तुतियों के अतिरिक्त अन्यत्र अपने आप व्यक्तियों, पदार्थों या स्थलों के साथ एक या दो; तीन विशेषण चुपके से आ विराजते हैं ।

गोस्वामीजी ने निम्नलिखित चारसौ सत्ताईस विशेषणों को स्थान दिया है — अवध, अवधनीय, अकल, अकेल, अखण्ड, अखिल, अगणित, अगम, अग्य, अगाध, अगुन, अगोचर, अधारी, अचल, अचेत, अचंभय, अज, अजय, अजर, अजित, अन्तर्यामी, अतिसय, अतीव, अतीत, अतुल, अतुलित, अद्भुत, अधम, अधिक, अधिकारी, अधिभौतिक, अधीर, अध, अनय, अनयल, अनमिल, अन्तरधान, अनंत, अनन्द, अनयास, अनवरत, अनादि, अनामय, अनुकूल, अनपम, अनुरागी, अनुरूप, अनुसारी, अनुहारी, अनेक, अपर, अपार, अपावन, अबाध, अबुध, अभंगा, अभय, अभागी, अभिमानी, अभिराम, अभिलाषी, अभेद, अमर, अमल, अमान, अमित, अयान, अरुत, अमोघ, अल्प, अलीका, अलौकिक, अवगाहा, अविकारी, अविनासी, अव्यक्त, असंक, अनुभ, आसंक, आकुल, आचरन, आतुर, आत्मवादी, आधीन, आन, आरत, आसक्त, आरुह, आसीन, उग्र, उचित, उजागर, उदार, उदासी, उदित, उपकारी, उरित, एकतनु, एकरस, एक, कठिन, कठोर, कपटी, कंपित, कमनीय, करता, कराल, करुणामय, कल, कलित, कादर, कामी, कारुणिक, कुंचित, कुकवि, कुटिल, कुभाषी, कुमार-गंगासी, कुवस्तु, कुबुद्धि, कृतज्ञ, कृतार्थ, कृपापात्र, कृपाल, कृपिन, कृम, कोविद, कोमल, क्रुद्ध, क्रोधातुर, खर्व, खिन्न, खीन, गंभीर, गम्य, गतिकारी, गनी, गरीब, गामी ग्राम, ग्याता, ग्यानगम्य, ग्यानवंत, ग्यानी, गुनसीला, गुनागर, गुनागार, गुपुत, गुदग, गुर्ति, गौर, घनेरे, घायल, घन, घोर, चतुर, चंचल,

चोखा, कालिका, कुधित, कुभित, जटिल, जड़, जुगल, लग्न, तारन, भ्राता, तृभित, त्रसित, त्रिविध, तोरा, दमसील, दवन, दयालु, दरिद्र, दलनि, दधित, दानी, दात, दायक दिव्य, दारुन, दीन, दयाला, दुखारी, दुखित, दुर्लभ, दुर्गम, दुर्मद, दुष्ट, दृढ़, धनी, धरमत, धवन, धीर, नयसीला, नव, नवल, नष्ट, नागर, नाना, निठुर, निनारी, निधुन, निरन्तर, निराल, निर्गुन, निर्भय, निर्भर, निर्मल, निहाल, नीक, निवासी, नीच, नूतन, नी, पंडित, पयादे, परम, प्रकासी, प्रगट, प्रघोर, पृथक, प्रचंड, प्रचुर, प्रथम, प्रबल, प्रमुख, प्रमान, प्रवीण, प्रसन्न, प्रसिद्ध, पापी, पामर, पालक, पावन, प्रबल, प्रकारा, प्रवर, पिंगल, प्रिय, पति, पुनीत, पूत, पूज्य, पोषक, वक्र, वरिआई, बरिखंड, बलधामा, बल्लभ, बलवंत, बलवीर, बहुत, बहुल, बहु, विकल, विकट, विगत, विज्ञानी, विचित्र, विजई, विदारन, विदित, विनयी, विनीत, विविध, विपुल, विमल, विमल, विमुख, विरज, विरक्त, विरथ, विवाकी, विसद, विरुज, विसाल, विसोक, वीर, विविध, विषम, विसेव, विसुद्ध, बोधमय, बौराहा, व्याकुल, व्यापक व्यापित, वैद्य, भच्छक, भट, भयकर, भयातुर, भव्य, भयानक, भयावन, भल, भल, भंजन, भारी, भावन, भिन्न भीषण, भुलानी, भीम, भूरी, भ्रमित, गमन, मंगल, मंजुल, मंजु, मंडन, मद, मदमति, मत्त, मतिवीर, मतिमंद, मधुर, मदन, मनोहर, मलीन, महा, मानस, मायावी, मिथ्या, मुदित, मुखर, मुरछित, मूढ़, मृदु, मृदुल, मृषा, मोचन, यथामति, रंक, रच्छक, रंजन, रथी, रनधीरा, रम्य, रामा, रसाला, रसिक, रुचिर, लडु, लपट, ललित, लायक, लाल, लालची, लीन, लोभी, लोलुप, लौकिक, वैद्य, गुर, शोभित, सकल, संकुल, सचेत, सजल सजीव, सठ, सत, सनाथ, सश्रीती, सप्रेम, सब, सबदरसी, सभय, सभिता, समदरसी, समन, समरथ, समस्त, सयान, स्यामल, सरन, सरल, सर्व, सर्वत्र, सरस, स्वारथी, सहज, सादर, साधु, सिरीमनि, सित, सीतल, सुकवि, सुखकंद, सुखकारी, सुखद, सुखधाम सुखरासि, सुखारी, सुगम, सुकृती, सुचि, सुजान, सुन्दर, सप्रेम, सुफल, सुभ, सुभग, सुभट, सुमति, सुरुचि, सुलभ, सुवास, सुसील, सुहाई, सुहावन, सेवी, सोभित, सोधक, हरन, हरषि,

हरित, हितकारी, हिंसक, हीन, । इनमें से 'अ' अक्षर से आरम्भ होने वाले विशेषणों की संख्या सर्वाधिक ८० है। इसके बाद 'स' अक्षर वाले विशेषणों की संख्या ६० है।

इनके अतिरिक्त सी से अधिक विशेषण, संज्ञा शब्दों में निम्नलिखित रूप में पदों को जोड़कर निमित्त किये गये हैं—

अवधि-शोभा अवधि (मा १-१०६ दो)

कर-संकर (वि० प० १२-१)

करनि-मंगलकरनि (वि० प० २०-१)

कृत-पुण्यकृत (वि० प० १८-२), मूलाग्रकृत (वि० प० ११-७),

का-पापछालिका (वि० प० १७-१), मालिका (१७-२), पालिका (१७-३)

खान, खानि-छवि खान (मा० १-१०० छं०), गुनखानि (मा० १-२४७-१), सोभाखानि (मा० ७-२४-३)

ग्रह, घर, सदन-लावण्य गृह [वि० प० ५०], श्रीसदन [वि० प० ७७], सुन्दरता, मंदिर (मा० ७-३३-३),

गुनमंदिर [वि० प० ८५-२]

गत-खेदगत [वि० प० १०-६]

प्रद-संप्रदं (वि० प० १२-२)

दरनि-दारिद दरनि (वि० प० २०-२)

धर, धरनि-सूलधर (वि० प० ११-५), गंगाधरं (वि० प० १२-३), नमपताल धरनि (वि० प० २०-१)

धारिनि-सूल धारिनि (वि० प० १५-१)

धाम-रूपशील धाम (गीता० ७७-१), छविधाम (गीता० ७-१२-७), गुनधामा (मा० १-१६८-६), लावण्य-धाम (वि० प० १०-१)

नि-खंडनि, विखंडनि (वि० प० १५-४), धरिनि, दलनि (वि० प० १६-२) नामिनी (वि० प० १६-३), बन्दिनी (वि० प० १७-१), विद्राविनी (वि० प० १८-१) बरनी (मा० २-११७-३), मुक्तिदायिनी (वि० प० १६-१)

निधि, निधान, -रूपनिधि (गीता (२-१८-१), सोभा निधान (वि० प० ४६-३), करुणानिधानं (वि० प० (११-५)

प्रद- ग्यानप्रद (वि० प० १८-३), कल्याण प्रद (वि० प० १३-१)

पार-वेदपार (वि० प० १२-३)

मय-छविमय (गीता० १-५५-१), रूपमय (मा० १-२४७-७)

मरजाद-सुंदरतामरजाद (मा० १-१००-८)

मूल, मूला-सौभाग्य मूलं (वि० प० १२-५), विस्वमूलासि (वि० प० १५-१)

रत-कण्ठरत (वि० प० १०-६)

रासि-रूपरासि (मा० ७-७७-८), पुण्यरासि (वि० प० १७-१)

सागर-रूपसुगुनसागर (मा० १-२८६-५), रूपसिंधु (मा० १-१८८-५), रूप के पारावार (गीता० २-२६-२), सोभासागर (गीता० १-१६-६), सोभासिंधु (मा० ६-१११)

सि-सरोज जामि, विभासि (वि० प० १७-१)

सींव, सीमा-छवि सींव (गीता० ७-१६-६), सोभासींव (मा० १-१३६-३), सीलसीमासि (वि० प० १५-३)

हर-सोकहर (वि० प० १३-५)

हारि, हारे-ताप हारि (वि० प० १७-२), लजावनिहारे (मा० २-११७-१)

इनमें से अवधि, सीमा, सींव, धाम, सदन, सागर, सिंधु, खान, खानि, उपमान वाचक संज्ञा शब्द हैं जो रूपक अलंकार के रूप में व्यवहृत होकर विशेषण का निर्माण करते हैं। संज्ञा और विशेषणों में पर्याय शब्दों की संख्या अधिक दिखलाई पड़ती है। विशेषण पर्याय निम्नलिखित हैं—

सुन्दरतावाची विशेषण

सुन्दर, अभिराम, कमनीय, कलित, चारु, मनोहर, लोना, रमणीय, सलोना, सुहाए, कल, ललाम, रम्य, रसाल, रुचिर ललित, लोभाई, सोमित, मंजु, मधुर, मृदु, मृदुल, सुहावन, सुमग, सरस, सूरा, इसी के साथ सौन्दर्य अंकन अर्ध, छवि, छटा, रूप, लावण्य, सोभा, सुन्दरता, दुति सुप्रभा, दुति में सीव, मरजाद, निधि, धर, धाम, सागर, खान, मय, राशि, आदि तद्धित शब्दों को जोड़कर सौन्दर्य बोधक विशेषणों का निर्माण किया गया है।

अतिशयता बोधक विशेषण—अतीव, अपार, अमान, अगम
अगाध, अमाप, अनंत, अतिसय, अधिक, घनेरे, बृहद,
वेहद, विसद, विपुल, बहुत, भूरि, अगिनत, अवध,
अनगिन, अक्षय, व्यापक, अकथनीय, व्यापित ।

स्वच्छता बोधक विशेषण—अमल, धवल, निर्मल, नीक,
विमल, भल, विमुद्ध, मुद्ध ।

मूर्खता बोधक विशेषण—जड़, खर्व, मूढ़, सठ, कुबुद्धि,
अयान, अबुध, मतिमंद, मंद, मूर्ख ।

बुद्धि बोधक विशेषण—कोविद, चतुर, तग्य, निपुण, पंडित
प्रवीण, विग्यानी, सयान, सुजान, सुमति, ग्यानी
ग्याता, ग्यानवंत, गुनशील, गुनाकर, गुनागार,
नागर ।

विकटता बोधक विशेषण—कराल, कठोर, कठिन, घोर,
दुर्गम, प्रचण्ड, विकट, विषम, दारुन, दुसह, असह ।
दया बोधक विशेषण—कृपाल, दयाल, कारुणीक, करुणामय,
दयामय, दयागार, कृपासिधु, दयासागर, करुणाकर,
कृपायतन ।

दीनता बोधक विशेषण—दीन, दरिद्र, गरीब, रंक, हीन,
लघु ।

बल बोधक विशेषण—प्रबल, बलबीर, बलवंत, बलधाम,
बलवान, बरिब्रंड, सूर, समरथ, सुभट, बरिआई ।

कोमलवाची विशेषण—कोमल, मंजु, मृदु, मृदुल, मधुर ।

भिन्नता बोधक विशेषण—नाना, विविध, भिन्न, अनेक ।

उन्मत्तता बोधक विशेषण—उन्मत्त, प्रमत्त, मत्त ।

नैतिबोधक विशेषण—अधम, नीच, पामर, खल, कुटिल,
कपटी, पातकी, शठ, दुष्ट, क्रूर, कूर ।

पवित्रता बोधक विशेषण—पावन, पुनीत, सुचि ।

प्रसन्नता बोधक विशेषण—मुदित, हर्षित, प्रसन्न, आनन्दित,
हर्षमय ।

शीलवाचक विशेषण—सरल, साधु, सुशील, सीलमय,
सीतल ।

भयबोधक विशेषण—सभीत, त्रसित, कादर, कंपित, विकल
व्याकुल, दुःखित, खिन्न ।

सुखवाची विशेषण—सुखद, सुखकारी, सुख, सुखधाम,
सुखरासी ।

विचित्रता संबंधी विशेषण—अद्भुत, अनुपम,
अतुल, अतुलित, विचित्र, अलौकिक, दिव्य ।

धनदान संबंधी शब्द—गनी, दाता, दानी, धनी, दायक ।
समस्ता बोधक विशेषण—सकल, समस्त, अखिल, अखंड ।

अन्य समानार्थी विशेषण—भयंकर, घोर, मंगल, शुभ,
कल्याणप्रद, कल्याणकर, हितकारी, मिथ्या, मृषा, लपट,
लालची, परम, महा, बड़ ।

विशेषण प्रयोग में गोस्वामी जी ने अत्यन्त सजगता
और प्रवीणता बरती है, यह निम्न उदाहरणों से प्रमा-
णित हो जायेगा । संस्कृत में 'सर्व' को गोस्वामी जी ने
सर्व और सब-इन दो रूपों में प्रयुक्त किया है । सर्व या
सब के अन्य प्रयुक्त पर्याय हैं—सकल, समस्त, अखिल और
अखंड ।

गोस्वामी जी की प्रवृत्ति अनुप्रास प्रयोग पर अत्य-
धिक है तथा जहाँ यमक बन सकता है तो ऐसा पर्याय
प्रयुक्त करेंगे कि यमक सामने आ खड़ा हो । इतने पर
भी पर्याय शब्दों के प्रयोग में सजगता और सावधानी
मिलती है । सर्व, सब, सकल, और समस्त एक ही 'वर्ण'
स रखते हैं । अतः अनुप्रास जड़ने की बात किसी एक भी
शब्द प्रयोग से सिद्ध हो सकती है । यही बात अखंड और
अखिल के प्रयोग के पक्ष में है । सर्व, सब, सकल और
समस्त विशेषणों में से गोस्वामी जी ने सबसे अधिक
प्रयोग 'सकल' का किया है । उसके पश्चात् सब का;
सर्वका प्रयोग बहुत कम है । 'सर्वग्य' बनाने के लिए ही
सर्व का प्रयोग सर्वाधिक है । लाटानुप्रास और यमक की
सिद्धि हेतु भी सर्व प्रयुक्त है । उदाहरण देखिए—

यमक—(१) सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति
प्रेम (मा० ७-१६) विनयपत्रिका में सर्व का प्रयोग
लाटानुप्रास और यमक की सिद्धि हेतु स्तुतियों में बहुत
हुआ है—

सकल सौभाग्यप्रद, सर्वतो भद्र,
निधि, सर्व, सर्वेस सर्वाभिराम ।

सर्वसुखधामगुणग्रामविग्रामपद
नामसर्वास्पद अति पुनीत ॥

सर्वरक्षकसर्वमक्षकाध्यक्षकूटस्थगूढाचिभवतानुकूल ।

(वि० प० ५३)

सर्वकृतसर्वभूतसर्वजितसर्वहितसत्यसंकल्प

कल्पांतकारी (वि० प० ५६-४)

अखिलविग्रहउग्ररूपशिवभूषणसर्वगतसर्व-

सर्वोपकारं (वि० प० १०)

सर्व के कुछ अन्य प्रयोग-

रामब्रह्म चिन्मय अविनासी । सर्वरहित सब उरपुरवासी ।

किन्नर नाग सिद्ध गंधर्वा । बधुन्ह समेत चले सुर सर्वा ।

सकल और सब में से सकल का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है, सब शब्द का काफी कम । सकल में तीन मात्राएं हैं सब में दो । अतः जहां तीन मात्राओं की आवश्यकता है, वहां सकल प्रतिष्ठित है और जहां दो मात्राएं चाहिए थीं, वहां सबका प्रयोग किया गया है । ऐसे भी दो चार स्थल हैं जहां 'सकल' और सब शब्दों का एक साथ ही प्रयोग हुआ है-

सहज बयर सब जीवन्ह त्यागा ।

गिरि पर सकल करहि अनुरागा ॥

(मानस १-६६-२)

कवि न होऊं नहि बचन प्रवीनू ।

सकल कला सब विद्या हीनू ॥

(मानस १-६६-५)

गोस्वामी जी को 'सकल' शब्द अधिक प्रिय है ।

उन्होंने इसका प्रयोग ही अधिकांशतः किया है । सकल

और सब, पर्याय होते हुये भी दोनों के प्रयोग में

वैशिष्ट्य भी दिखलाई पड़ता है । 'सब' में सीमा है

सकल में नहीं । सब प्रयोग विस्तार में उतना बड़ा नहीं

है जितना 'सकल' है । सकल सारी सम्पूर्णताओं का

बोधक है, उसमें अच्छा-बुरा, चर-अचर, ऊंच-नीच,

समस्त वर्ग जातियां कोटियां, पदार्थ, प्राणी समाहित हैं;

जबकि सब में वह विस्तार नहीं है । ऊपर की दोनों

पंक्तियों में से प्रथम पंक्ति में 'सकल' और 'सब' समा

नार्थी भासित होते हैं । अंतर यही किया जा सकता है-

कि हिमवान के प्रभाव से जीवों ने बैरभाव छोड़ दिया ।

बैरभाव करने वाली जीव जातियां सीमित हैं; जैसे-

मूषक-बिल्ली, कबूतर चिड़ियां आदि छोटे पक्षी और

बिल्ली, सांप-मूषक, सिंह-हरिण, आदि । ऐसे भी जीव हैं जो विरोधी या शत्रु नहीं । अतः जो जीव बैरभाव रखने वाले थे, उन्होंने भी शत्रुता छोड़ दी । जहां तक गिरिराज से प्रेम करने का क्षेत्र है, वह विस्तृत है । सकल जीव हिमवान से अनुराग करते थे । चाहे वे बैरभाव रखने वाले हों, चाहे न रखने वाले हों । जीव तीन प्रकार के हैं-प्रेमभाव रखने वाले, उदासीन और बैरभाव रखने वाले । ये सभी गिरिराज पर अनुराग रखते थे ।

दूसरी पंक्ति में कलाएं '६४' हैं, ये सकल शब्द से द्योतित हैं; जबकि विद्याएं १४ हैं । जिनको बताने वाला शब्द 'सब' है ।

'सब' तो फुर होहु ओकहेऊं सब भाषा भनिति प्रमाउ ।
(मानस १-१५)

यहि विधि सब संसय करि दूरी (मानस १-५१-३)
लीन्ह परीक्षा कवन विधि कहहु सत्य सब बात ।
(मानस १-५५)

तब संकर देखे धरि ध्याना ।
सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥
(मानस १-५६-४)

बन सागर सब नदी तलावा ।
हिमगिरि सब कहु नेउत पठावा ॥
प्रथमहि गिरि सब गृह संवराए ।
यथाशीघ्र जहं तहं सब छाये ।
(मानस १-६४-७)

रहे तहां दुइ रुद्रगन, ते जानहि सब भेउ ।
(मानस १-१३३)

सकल-

ललित कपोल मनोहर नासा ।
सकल सुखद ससि कर सम हासा ॥
(मानस ७-७७-४)

देव दनुज गन नाना जाती ।
सकल जीव तहं आनहि भाती ॥

[मानस १-५१-३]

सुजन समाज सकल गुन खानी । [मा० १-२-४]

हरिहर कथा विराजति बेनी ।

सुनत सकल मुद मंगलदेनी ॥ [मा० १-२-१०]

जड़-चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि ।

[मा० १-१५]

निशचर निकर दले रघुनन्दन ।

नाम सकल कलि कलुष निकंदन ॥ [मा. १-२४-८]

देव दनुज किन्नर नर सेनी ।

सादर मज्जाहि सकल त्रिवेनी । [मा० १-४४-४]

स्वच्छता बोधक विशेषणों को लें। गोस्वामी जी की अनुप्रास प्रवृत्ति पर्यायों के प्रयोग में प्रधानतया उन्हें प्रवृत्त करती है। स्वच्छता बोधक पर्याय शब्द अमल निर्मल, विमल, धवल, नीक, भल, विशुद्ध, के संबन्ध में भी यही हिद्वान्त सत्य है। विवेक का प्रयोग मानस में बहुत है, उसके साथ 'विमल' का भी प्रयोग प्राप्त है तथा विधु और विभूति विलोचन बानी के साथ भी विमल आयेगा ही। धाम के साथ धवल, अनुराग के साथ अमल।

उदाहरण—

विमल विवेक—

सो विचारि सुनिहाहे सुमति, जिन्ह के विमल विवेक ।
[मा० १-६]

काम क्रोध मद मोह नसावन ।

विमल विवेक विराग बढ़ावन ॥ [मा० १-४३-५]

होइ न विमल विवेक उर, गुरुसन किये दुराव ।

[मा० १-४५]

धवल धाम—

धवलधाम मनि पुरट पट, सुघटित नाना भाँति ।

[१-२१३]

अमल अनुराग—

तेहि माँगेहु भगवंत पद, कमल अमल अनुराग ।

[१-१७७]

निर्मल नीर—

पहुंचे जाइ धेनुमति तीरा ।

हरषि नहाने निरमल नीरा ॥ [१-१४३-५]

विमल विलोचन—

उधरहि विमल विलोचन ही के ।

मिटहि दोष दुख भव रजनी के । [१-१-७]

विमल बानी—

अब सुनु परम विमल मम बानी [७-८६-१]

जय धुनि विमल वेद बर बानी [१-३४८-२]

विमल विधु—

भारत विमल जसु विमल विधु,

सुमति चकोर कुमारि । [२-३०३]

निकसे जनु जुग विमल विधु,

जलद पटल विलगाय । [१-२३२]

विमल विभूति—

भगति विरति गुन विमल विभूति । [२-३२५-६]

अनुप्रास के प्रयोग के अतिरिक्त गोस्वामीजी ने शब्द के प्रयोग का स्थान निश्चित किया है। प्रेम या भक्ति, अमल है (१-१७७), (२-७५-६०)। अमल का अर्थ मल रहित है। वस्तु और आभूषण भी अमल हैं (३-५-३), निर्मल का अर्थ है मल की पूर्ण हानि। यह अमल से अधिक सशक्त शब्द है। मति और मंत निर्मल हैं (१-१८७-७), (५-४४-५)। स्वभाव निर्मल है (३-३३-१३)। ऋतु, आकाश, निर्मल है (४-१६-६), (४-१८-१), (६-११६-८)।

विमल अर्थ है, मल का विनाश। यह इन तीनों में सबसे सशक्त शब्द है और उसका प्रयोग अधिक हुआ है। कथा विमल है (७-५२-५ तथा १-१२०-७), सूर्य वंश विमल है (२-१०-७), मानस (मानसरोवर) विमल है, उसी प्रकार मनुष्य का मानस (मन) और हृदय विमल हो जाता है (२-१२७), [२-३०४], कीरति विमल है [१-१४], विचार विमल है [१-३३]।

जनक वाटिका - सर-जल विमल है [१-२२७-८], भगवान् राम के वस्त्रक विमल हैं [२-६५]। राम का यश विमल [२-आरम्भिक दोहा ६-२४-११, ६-७७-३] है। विमल का प्रयोग बाह्य-आन्तरिक अंगों, वस्त्राभूषण गुण, यश, सरोवर, वंश के साथ प्रधानतः हुआ है।

धवल का अर्थ है श्वेत, कालिमा रहित। भरत का यश धवल है [२-२८७-२]। नीक का अर्थ है अच्छा

या भला । नीक शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में हुआ है । नीक से सशक्त है भल और विमुद्ध । तीनों में सबसे सबल विमुद्ध शब्द है । गोस्वामीजी ने मानस में नीक का प्रयोग बहुत किया है । निकाई [१-२६], सुन्दरता [१-१३४], आचार [१-१४२-२], शिक्षा [२-७२-१] आज्ञा [२-२६६-२], उपदेश [२-१७६] आदि अव्यक्त पदार्थों के साथ नीक विशेषण प्रयुक्त हैं । धन [१-१४३], मनुष्य [१-१३७-२], [२-३३-७, २-३३-८, २-१२१-३], स्थल [२-१३५-४], कार्य [१-३२३-४] आदि व्यक्त, आकारमय पदार्थों के साथ भल शब्द प्रयुक्त है । विशुद्ध का अर्थ है सब प्रकार से अन्दर-बाहर से स्वच्छ या श्वेत । संत [७-६६-७], भक्ति [७-८४] और ईश्वरीय आकार [३-४-५ छन्द] विशुद्ध हैं ।

निम्नता बोधक विशेषण हैं — अधम, नीच, पापी, पामर । अधम वह है जो मोहग्रस्त हो । वे लोक वेद की मर्यादा को नहीं मानते हैं और शुभ आचरण से कोसों दूर भागते हैं । धर्म भावना से हीन आचार में गिरा हुआ मनुष्य अधम है —
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच ।

[१-११४]

लोक वेद से विमुख भा, अधम न बेन समान ।

[२-२२८]

मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ ।

शुभ आचरण कीन्ह नहिं काऊ ॥ [५-४७-७]

जाति वर्ग धर्म से गिरा मनुष्य नीच है । समाज

में हेय, जाति में निम्न या विपरीत बुद्धि वाला व्यक्ति नीच है, ऊंच के बिलोम में नीच है—

भगतिवत अति नीचउ प्राणी ।

मोहि प्राण प्रियअस मम बानी ॥ [७-८६-१०]

जो संपदा नीच गृह सोहा ।

सो विलोकि सुरनायक मोहा ॥ [१-३२१ ८]

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा ।

नाइ माथ स्वास्थ रत नीचा ॥ [३-२४-६]

निर्दयी और हिंसक मनुष्य पापी हैं, जो दूसरों को कष्ट देते हैं । सामाजिक जीवन को भट्ट करने वाले कृत्य पाप हैं जैसे— गो-घात, गुरुपत्नी समागम, पर स्त्री समागम, माता-पिता को कष्ट देना, बालक, राजा, ब्राह्मण को मारना आदि । इसे अधर्म की संज्ञा दी गई है । जो इन कुकृत्यों को करता है वह पापी है - कृपा रहित हिंसक सब पापी । [१-७६-८]

गाधि तनय मन चिंता व्यापी ।

हरि बिनु मरहि न निसिचर पापी । [१-२०-६-५]

हरिहर निदा सुनइ जो काना ।

होइ पाप गोघात समाना ॥ [६-३२-२]

जो पापी बराबर कई पाप करता जाय तो वह पामर है—

पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपवाद ।

ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥ [७-३६]

हति नाथ अनाथहिं पाहि हरे ।

विषया बन पाँवर भूल परे ॥ [७-१४-८६]



वाररुचि प्राकृत व्याकरण सूत्रों के संरक्षण में

भामह का योगदान

—डॉ० मोतीलाल रस्तीगी

प्राकृत भाषा के उपलब्ध प्राचीनतम व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत प्रकाश के अब तक पाँच टीकाकारों से विद्वत्-समाज परिचित हो चुका है। इनमें सबसे प्राचीन टीकाकार भामह है, जिसने प्राकृत प्रकाश पर 'मनोरमा वृत्ति' लिखी है। यह भामह कौन है? कब हुआ है? और किस प्रदेश का रहने वाला था? निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। पीटसन और पिशल ने इसे 'काव्यालंकार'कार भामह से अभिन्न स्वीकार किया था¹। किन्तु यह अभिन्नता पुष्ट आधार पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि भरत 'नाट्य शास्त्र' का सुविख्यात काश्मीरी व्याख्याकार² 'अभिनव गुप्त' भरतमुनि के प्राकृत-सूत्रों की व्याख्या करते हुए एक 'प्राकृत-हीनिका' का तो उल्लेख करता है, जो अन्यथा अज्ञात और अप्रख्यात है। किन्तु प्राकृत प्रकाश के टीकाकार भामह अथवा उसकी टीका (मनोरमा वृत्ति) से परिचित नहीं प्रतीत होता। और यह असम्भव है कि अभिनव गुप्त काश्मीरी अलंकारिक भामह को तत्त्वज्ञानता हो, जिसके अलंकार शास्त्र का टीकाकार (उद्भट) काश्मीरी नरेश जयध्वज के राज्यकाल (७७६-५१२) में जीवित हो। कलतमह निश्चित सा है कि प्राकृत प्रकाश का टीकाकार भामह काश्मीर निवासी नहीं था, और वह अलंकारिक भामह से भिन्न व्यक्ति था।

वररुचि के अन्य सभी टीकाकार और पुरुषोत्तमदेव से राम शर्मन् तक सभी व्याकरण भामह की व्याख्या और सूत्र पाठ से सुपरिचित हैं। सभी ने भामह की व्याख्या का पूर्ण उपयोग किया है। 'पश्चिमी-सम्प्रदाय' के पुरस्कृति आचार्य हेमचन्द्र भी भामह की व्याख्या से प्रभावित हैं। अतः इतना तो सुनिश्चित है कि भामह इन

सभी टीकाकारों एवं व्यकरणों से प्राचीन है। और इतना प्राचीन है कि प्राकृत प्रकाश की मनोरमा वृत्ति की कुछ प्रतियों में कुछ स्थलों पर पुष्पिकाओं में वररुचि के नाम के साथ-साथ भामह का नाम प्राप्त हो रहा है, यथा—'इति भामहविरचिते' (कृते) प्राकृत प्रकाशे' 'इति प्राकृत प्रकाशे मनोरमाया वृत्ति भामहविरचिताया शौरसेनी लक्षण द्वादशः परिच्छेदः अन्यत्र केवल 'इति प्राकृत प्रकाशे' है जब कि 'काविल' की प्रतियों में सर्वत्र 'इति वररुचिकृते प्राकृत प्रकाशे' है, और पंडित बल्देव उपाध्याय की प्रतियों में आठ परिच्छेदों के अन्त में 'काविल' की ही पुष्पिका है, ३ परिच्छेदों के अन्त में 'इति महामुनि' वररुचिकृते / प्रणीते प्राकृत-प्रकाशे' है और द्वादश परिच्छेद का अभाव है।

द्वादश परिच्छेद की पुष्पिका अभिव्यक्त कर रही है कि इस पर भी मनोरमा वृत्ति थी किन्तु अब लुप्त हो गई है।

वररुचि के अन्य सभी टीकाकार—

(१) केवल 'निपात सज्ञा विधि' तक ही³ विचार कर रहे हैं।

(२) वररुचि के महाराष्ट्री से भिन्न प्राकृत भाषाओं से सम्बद्ध सूत्रों से परिचित नहीं हैं।

(३) और स्वयं भामह के पाठ में अन्य प्राकृतों पर बहुत थोड़े से सूत्र और वे भी अनियत क्रम से उपलब्ध हो रहे हैं।

ये तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश करते हैं कि वररुचि ने केवल महाराष्ट्री का विवेचन किया है⁴, अन्य प्राकृत भाषाओं का नहीं। ऐसी परिस्थिति में पेशाचिकादि परिच्छेद क्या स्वयं भामह कृत⁵

हैं, अथवा उसने अन्यत्र से संकलित किए हैं ?

भामह ने अपनी वृत्ति में न तो किसी वैयाकरण, टीकाकार का कहीं उल्लेख किया है, और न लक्षित प्राकृत साहित्य के किसी ग्रन्थ से उद्धरण ही दिये हैं, जिनसे भामह के काल निर्धारण में कोई प्रकाश मिल सके।

महाराष्ट्री पर भामह ने वररुचि के ४२५-४२६ सूत्र दिये हैं। इनमें से १९७ सूत्रों को सभी टीकाकार तद्रूप में ही पढ़ रहे हैं, और १२ सूत्रों का (अन्य) सब में अभाव है। १५-१६ सूत्रों का पाठ विवादग्रस्त है। शेष सूत्रों को अन्य टीकाकारों ने कभी तद्रूप में, कभी कुछ संशोधन अथवा अन्तर करके पढ़ा है।

भामह की व्याख्या प्रायः सक्षिप्त है। वह रूप सिद्धि के पचड़े में नहीं पड़ा है। और न उदाहरणों की भरमार से व्याख्या को बोझिल ही बनाया है। केवल सीमित, किन्तु समुचित उदाहरणों से सूत्रार्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ऐसा करने में सम्भवतः भामह ने अपने सम्मुख कुछ सामान्य सिद्धान्त रखे हैं—

- (क) अधिकार सूत्र निर्देश, अधिकार-पद-निर्देश, अधिकार निवृत्ति-सकेत।
- (ख) सूत्रस्थ पदों की विभक्ति निर्देश पूर्वक व्याख्या।
- (ग) यथाशक्ति समुचित उदाहरणों द्वारा वररुचि के प्रतिपाद्य नियमों का स्पष्टीकरण।
- (घ) गण-पाठ का उल्लेख न करते हुए भी, प्रत्येक गण के सुप्रसिद्ध प्रमुख^{१३} शब्दों का निर्देशन इत्यादि।

(१) वररुचि ने जहाँ-जहाँ अधिकार सूत्र दिये हैं, भामह ने सर्वत्र उनका स्पष्टतः निर्देश किया है, उनकी सीमाओं का, और अधिकार पदों का भी बोध कराया है। और वररुचि सम्प्रदाय के 'प्राकृत मंजरी-कार' से 'रामपाणिवाद' तक सभी टीकाकारों ने भामह के निर्देश को सहर्ष स्वीकार किया है, यथा—

१/१ 'आदेरतः' सूत्र की व्याख्या में—

'अधिकारोऽयम्। आदेरित्येतद् आपरिच्छेद-समाप्तेः। अत इति च आ अकार

विधानात्'।

२/२

'आयुक्तस्यानादौ' सूत्र की व्याख्या में—
'अधिकारोऽयम्।'—अयुक्तस्येत्यापरिच्छेद-समाप्तेः। अनादाविति च, आ अकार विधानात्'।

३/६

'युक्तस्य' सूत्र की व्याख्या में—
'अधिकारोऽयमापरिच्छेदसमाप्तेः, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो युक्तस्येत्येव वेदितव्यम्'।

३/५६

'विप्रकषः' सूत्र की व्याख्या में—
'अधिकारोऽयम्। आ परिच्छेदसमाप्तेः। युक्तस्य विप्रकषो भवति'।

६/२५

'पदस्य' सूत्र की व्याख्या में—
'अधिकारोऽयम्। आ शब्द विधानात्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः पदस्य तदभवतीत्येव वेदितव्यम्'।

६/५४

'द्वेदौ' सूत्र की व्याख्या में—
'पदस्येति निवृत्तम्। सुपीतिवर्तते'।

६/१

'निपाताः' सूत्र की व्याख्या में—
'अधिकारोऽयम्। वक्ष्यमाणा निपातसंज्ञका वेदितव्याः'।

(२) वररुचि के सूत्र में उपस्थित यों तो सभी पदों की भामह ने व्याख्या की है, किन्तु स्थान-स्थान पर उद्देश्य-विशेष से प्रयुक्त शब्दों के महत्त्व को भी स्पष्ट करने का सतत प्रयास किया है। जहाँ कहीं पदों की विभक्तियों में भ्रम होने की सम्भावना है, और उसके फलस्वरूप अर्थ का अनर्थ हो सकता है, भामह विशेष रूप से सावधान है और अभीष्ट विभक्ति निर्देश करता है, जो उत्तरवर्ती टीकाकारों को मान्य है। यथा—

१/१२

'इत एत पिण्ड समेषु' सूत्र में 'समग्रहणं संयोगपरस्योपलक्षणार्थम्-समानपरिस्थितिक संयोगपरस्य इकारस्य' का ग्रहण किया गया है। प्रा० मं., और राम पा० भामह के इस अभिप्राय को स्मरण रखते हैं। संजी० ने 'पिण्ड सदृशेषु शब्देषु' अर्थ लिया है, किन्तु सादृश्य को स्पष्ट नहीं किया है।

१/३२

'वृक्षे वेन रुचि' सूत्र में 'वा' को भा० स्पष्ट

करता है—'व्यवस्थितविभाषा ज्ञापनात् छत्वं पक्षे न भवति, खत्वं पक्षे तु नित्यमेव भवति'। इसे राम पा० ने स्मरण किया है।

२/२ 'क ग व ज०—प्रायो लोपः' सूत्र में—

'प्रायो ग्रहणाद् यत्र श्रुतिसुखमस्ति तत्र न भवत्येव'। प्रा० मं० ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। मार्क. ने 'यत्र नश्यति सौभाग्यं तत्र लोपो न मन्यते, कहकर भा० के अभिप्राय की पुष्टि की है।

३/६ 'युक्तस्य'—'युक्त' ग्रहणं हलोऽन्त्यस्य माभूत्'।

३/२० 'चौऽसिनेषु०—'सम' ग्रहणादाकृतिगणोऽयम्'।

५/१ 'अत ओत् सोः'—'अतः' को पञ्चम्यन्त मान कर 'सोः' स्थाने ('सु' प्रत्यय के स्थान पर) ओत् स्वीकार किया है। संजी. सु., रा. श. और हे० च० तक इसकी पुष्टि कर रहे हैं।

(३) वि. के प्रत्येक सूत्र की व्याख्या करने के पश्चात् भा० अनेक समुचित उदाहरण प्रस्तुत करता है। भा० के उदाहरणों का औचित्य इस तथ्य से निश्चित हो जाता है कि उत्तरवर्ती सभी टीकाकार उन्हें सुरक्षित रख रहे हैं। साथ में कभी-कभी साहित्य में दृष्ट अन्य सुन्दर-सुन्दर उदाहरणों के प्रति अपनी आसक्ति को संवरण करने में अपने को असमर्थ पाकर वे उन्हें भी सम्मिलित कर लेते हैं।

(४) कहीं-कहीं व० के नियमों का सम्बन्ध विशेष प्रकार के शब्दों से है जिन्हें गणों में विभक्त किया गया है। भा० ने गण-सूत्र/गण-पाठ¹⁴ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु प्रत्येक गण के सुप्रसिद्ध, प्रमुख शब्दों का निर्देश अवश्य कर दिया है, जिनमें से अधिकांश (६०-६५ प्रतिशत) शब्दों को उत्तरवर्ती सभी टीकाकार एवं वैयाकरण गण-पाठ में (अपने-अपने अतिरिक्त शब्दों के साथ) पढ़ रहे हैं। और कहाँ तक कहे, पश्चिमी सम्प्रदाय के हे० च० तक कुछ स्थलों पर भा० के ६० प्रतिशत तक शब्दों को सुरक्षित रख रहे हैं।

१/२ समुद्र्यादि में भा. ने १० शब्दों का निर्देश

किया है, इनमें से ६ को प्रा० मं० संजी० सु०, रामपा. ने, ७ को रा. श. ने और १० को मार्क. ने पढ़ा है।

१/५ शय्यादि में भा. ने ७ शब्दों के उदाहरण दिये हैं। इन सातों को प्रा० मं०, रामपा०, रा० श० मार्क. और हे० च० तक पढ़ रहे हैं, ६ को संजी० सु० ने भी।

१/२८ कृष्यादि में भा. ने १६ शब्दों का निर्देश किया है। इनमें से ११ को प्रा. मं., ६ को संजी. सु., १२ को रामपा. जा., १८ को मार्क. और हे. च. १६ को रा. श. भी सुरक्षित रख रहे हैं।

भा. ने लगभग ३०-३१ सूत्रों में 'गण' स्वीकार किया है। इसकी पुष्टि सभी टीकाकार एवं वैयाकरण कर रहे हैं—केवल एक १/११ 'सदादि गण' इसका अपवाद है, जिसे स्वयं भा. तो गणमान रहा है, किन्तु अन्य टीकाकार और मार्क. (तक) इसे अमान्य ठहराते हैं।

दूसरी ओर केवल ४¹⁰ स्थलों पर भा. ने गण नहीं माना है, किन्तु कुछ टीकाकार गण मान रहे हैं। 'देवादि, सन्धवादि' इत्यादि को अन्य वैयाकरण गण की मान्यता प्रदान कर रहे हैं, किन्तु भा. ने स्वीकार नहीं किया। फलतः उसके टीकाकारों को भी ये अमान्य रहे।

भा. १/२¹⁷, ४२¹⁸ और ३/२० को आकृतिगण और ४/१६ 'आंसादि' को अपठित गण बतलाता हुआ स्पष्ट करता है—'यत्र क्वचिद् वृत्तमङ्गमयात् त्यज्यमानः, क्रियमाणश्च बिन्दुर्भवति' अर्थात् कहीं बिन्दु का विकल्प से लोप होता है तो कहीं आगम। इसका नियामक कारण¹⁹ वृत्त है।

गण सूत्रों की व्याख्या में भा. के केवल १०-१२ शब्द ऐसे हैं, जिनका अन्यत्र/सर्वत्र अभाव है। यथा—२/८ में पडिसरो, ३/५२ में जनक, ४/५ में पारावत, अनुवर्तमान, ४/१५ में ह्रस्व, मुस्त, वर्ण, अश्व, ४/१६

में तर्हि असुं और ४/३३ में धातुलिङ्ग और मण्डुके १८ में धातुलिङ्ग

(v) (अ) व० के प्राकृत प्रकाश के सूत्रों की सुरक्षित रखने में सर्वाधिक श्रेय भा० को ही प्राप्त होता है, क्योंकि व० की परम्परा की अप्रतिहत गति और प्रवाह पूर्ण बनाये रखने में भा० का ही सर्वाधिक योगदान है। व० के ४२५-४२६ सूत्रों में से १९७^{२०} सूत्रों को समीचे भा० के तद्रूप में ही सुरक्षित रखा है, और जहाँ तक पृथक् पृथक् टीकाकारों का प्रश्न है—

प्रा० मं० कोरुने ३०१ सूत्रों को, संजी० ने २५६ सू० को, राम पा० ने २४८ सूत्रों को भा० के तद्रूप सुरक्षित रखा है।

प्रा० मं० कार ने २३५ सूत्रों को, संजी० ने ४५ सूत्रों को, राम पा० ने ११६ सूत्रों को भा० के तद्रूप सुरक्षित रखा है।

प्रा० मं० कार ने केवल ५२ सूत्रों को संजी० ने १०३ सूत्रों को, राम पा० ने ५८ सूत्रों को किञ्चित् अन्तराभिन्नता के साथ दिया है।

(आ) अवशिष्ट सूत्रों के पाठ के विषय में विपरीत अर्थ टीकाकारों / व्याकरणों से प्रभावित हैं।

(इ) व० के १२ सूत्र (१/७, २/५, ३/७, ३/३७, ५/६, ५/२५, ८/५, १०, २०, ६१, ६/१३ और १७) तो केवल भा० की व्याख्या में ही सुरक्षित हैं। अन्यत्र उनका अभाव है।

(ई) भा० के केवल २६ सूत्रों का प्रा० मं० में, ३३ सूत्रों को संजी० में, और २४ सूत्रों को राम पा० में अभाव है।

(उ) व० के केवल १५-१६ सूत्रों का ही भा० का पाठ विवाद-ग्रस्त/संशोधनीय व्याज्य हो सकता है। अन्य अनेक पाठांतर युक्त स्थलों में भी भा० के सूत्र-पाठ ही सर्वोत्तम और मान्य हैं।

(VI) व० के सूत्रों की सभी टीकाकारों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है, और प्रत्येक टीकाकार अपने पूर्ववर्ती टीकाकार/टीकाकारों से प्रभावित होता हुआ, उनकी कमियों को दूर करने की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। व० टीकाकारों की व्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए विवश करता है (क) कि वीसियों^{२३} ऐसे स्थल उदाहरण के लिए उद्धृत किये जा सकते हैं, जहाँ भा० की व्याख्या बहुत विस्तृत स्पष्ट और अच्छी है और उत्तरवर्ती टीकाकार उनकी व्याख्या में कोई विशेष अन्तरासुधार न कर सके। यथा—

४/२६ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

४/३१ 'अदेकत उकारो भवति'। अन्य टीकाकारों ने 'अदे०' छोड़ दिया है। संजी० की व्याख्या यहाँ मान्य नहीं हो सकती।

‘न सर्वे सर्वत्र’। भा. के सावधान करने पर रामपा. के प्रत्येक शब्द में सभी आदेश घटित-मान रहा है। अन्य सभी टीकाकार अलग-अलग प्रत्ययों के लिये पृथक् शब्द दे रहे हैं।

५/२ भा. स्पष्ट करता है कि व. ५ / ११ और १२ से अंग को दीर्घ, और एत्व करने के पश्चात् जस् भस् का लोप होता है। संजी० और राम पा० ने इसे मुला दिया है।

५/६ प्रा० मं० से हे० च० तक सभी टीकाकार/वैयाकरण भा० के दो, दु, हि की पुष्टि कर रहे हैं। संजी० सु० का इन्हें भिन्न रूप में पढ़ना असंगत है।

६/४० भा० से राम पा० तक सभी टीकाकारों ने सु परक ३ आदेश हं, अहं और अहं-समान रूप से स्वीकार किए हैं। मार्क०, रा० श० और हे० च० भी इन्हें सहर्ष मान्यता प्रदान कर रहे हैं।

६/५ भा० का सूत्रपाठ और व्याख्या दोनों बहुत ठीक हैं। सं० सु० का असंगत।

(ख) उत्तरवर्ती टीकाकार एवं वैयाकरण भी भा० की व्याख्या का अन्धानुकरण नहीं करते। दर्जनों ऐसे स्थल भी दृष्टिगत हुए हैं, जहाँ अन्य टीकाकारों ने भा० की व्याख्या से असहमति प्रकट करते हुए, उस-में सुधार / संशोधन किया है। यथा—

१/३ भा० ‘वेति निवृत्तम्’ कह रहा है, जबकि अन्य सभी टीकाकार ‘वेति वर्तते’ स्वीकार कर रहे हैं।

२/४ भा० यहाँ ३ ही शब्द पढ़ रहा है। ‘भीकर’ के लिए अग्रिम सूत्र देता है और क > भ० विधान करता है। जबकि अन्य सभी टीकाकार पुस्तुत सूत्र में ही ‘भीकर’ पढ़ते हैं और क > ह विधान मानते हैं। केवल हे० च० क > ‘भ हौ वा’ कहकर दोनों स्वीकार करता है।

२/८ भा० के अतिरिक्त २५ ‘प्रतिसर’ किसी ने भी नहीं दिया है। यों ‘प्रति’ से अन्य अनेक उदाहरण सभी ने दिए हैं।

२/१६ भा० ‘कबन्ध’ शब्द में व > म स्वीकार करता है, किन्तु प्रा० मं० और राम पा० व > य। केवल हे० च० दोनों मान रहा है २६ कमन्धो, कयन्धो।

२/४० भा० के अनुसार ल > ण केवल एक शब्द ‘लाहल’ में हो रहा है, जबकि संजी० सु० और सभी वैयाकरणों के अनुसार यह ध्वनि प्रवृत्ति अनेक शब्दों में दृष्टिगत हो रही है।

४/२५ भा० ने इसे व० का सूत्र नहीं माना है, किन्तु अन्य सभी ने इसे व० का ही सूत्र माना है।

५/११ भा० के सूत्र-पाठ में-^{२७} ‘मस्’ कहाँ से आया है ? प्रा० मं०, राम पा० सु० में; मार्क० और रा० श० में भी ‘मस्’ का अभाव है।

५/२२ भा० और संजी० केवल ३ विभक्तियों में आदेश विधान कर रहे हैं, किन्तु प्रा० मं०, राम पा० और मार्क०, रा० श०, हे० च० सब ४ विभक्तियों में।

५/३३ जसादि-चार विभक्तियों को सभी टीकाकार पढ़ रहे हैं। ५ वीं ‘सुन्’ को ^{२८} केवल भा० दे रहा है।

६/५१ भा० के पाठ में ‘मज्झ’ आदेश^{२९} अतिरिक्त है। इसके सहित ५ आदेश हो जाते हैं, जब कि व. सभी टीकाकार ४ आदेश ही स्वीकार करते हैं।

(ग) अनेक स्थलों पर भा. की व्याख्या बहुत ही संक्षिप्त^{३०} है।

(१) कहीं-कहीं अधूरी^{३१} / अपूर्ण है, अस्पष्ट^{३२} है।

(२) कहीं अर्थ निर्देश नहीं किया; कहीं एक आध शब्द छोड़ दिया;

(३) तो कहीं संप्रदाय-विरुद्ध व्याख्या भी की है। फलतः इन स्थलों पर भा. की व्याख्या समुचित व्याख्या नहीं मानी जा सकती

है। यथा—

(१)

३/४८ भा. 'वा' की अनुवृत्ति के विषय में मौन है, सु० भी मौन है।

४/१५ भा. ने 'विन्दुरागम'^{३३} तो बतलाया है (जिसे सभी टीकाकार अपनी-अपनी व्याख्या में स्वीकार कर रहे हैं), किन्तु परिस्थिति नहीं बतलाई। 'आगम' कहाँ पर होगा? प्रा. मं., राम पा., मार्क. और हे. च. ने व्याख्या में स्पष्ट किया है।

४/३३ 'बहुल' शब्द को भा. ने स्पष्ट नहीं किया है। 'आदि' शब्द से 'प्रकार' अर्थ लेकर विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित जन सामान्य की बोलियों के अनेक शब्दों का, जो परम्परया प्रयुक्त होते आ रहे हैं—ग्रहण किया है—सर्व एव देशसंकेतप्रवृत्तभाषाशब्दाः परिगृहीताः'।

६/२२ 'एतद्' शब्द की ६/१६ से अनुवृत्ति चल रही है, फिर इस सूत्र में 'एतद्' शब्द का पुनः पाठ क्यों किया गया? भा. ने इस पर प्रकाश नहीं डाला। अन्य किसी टीकाकार का भी ध्यान इधर नहीं गया।

८/५२ भा. न 'शकादि' को स्पष्ट करता है और न 'अन्त्यादि' को, फलतः भा. की व्याख्या सन्तोषप्रद नहीं है (राम पा. और सु. की व्याख्या अच्छी है)।

(२)

२/१८ भा. ने यहां अर्थादि पर विचार नहीं किया। फलतः व्याख्या अपूर्ण रह गई। मार्क., रा. श., और हे. च. अर्थ-निर्देश पूर्वक य> ह विधान कर रहे हैं।

२/३३ भा. ने यहाँ भी अर्थ-निर्देश नहीं किया। संजी. सु., हे. च. ने व्याख्या में, और मार्क. रा. श. ने अपने सूत्र में ही, अर्थ स्पष्ट कर दिया है। 'म्लेच्छार्थ' में चिलाओ/चिलादो (क>च) होता है, अन्यार्थ ('हर') में नहीं।

(३)

४/७ भा. पूर्व सूत्र की ज्यों की त्यों अनुवृत्ति करता है 'अन्त्यस्य हलः'। षष्ठ्यन्त अर्थ लेकर 'अन्तिम हल् के स्थान पर 'आ' आदेश मानता है, जो असंगत है। प्रा. मं. और रामपा. को इसे पञ्चम्यन्त लेकर 'आ' आगम मानना अधिक उपयुक्त है।

४/१४ भा. का सूत्र पाठ और व्याख्या दोनों अनुपयुक्त हैं। अम्सो, वम्सो, अम्चणीअं, विम्झो पाठ प्राकृत भाषा में असम्भव है।

४/२३ भा. का सूत्र-पाठ '०ऊणः' अनुपयुक्त है। सभी टीकाकार और वैयाकरण 'तूणः' दे रहे हैं।

५/४३-४४ भा. का 'राज्ञो जकारस्य आकारादेशः स्यात्' कहना असंगत है।

६/६१-६२ ये सूत्र ६/६० के अपवाद हैं। भा. की व्याख्या ठीक नहीं है। प्रा. मं. की व्याख्या मान्य है।

(घ) भा. की व्याख्या में 'कुछ स्थलों पर' अपेक्षित निश्चित संशोधनों का संकेत भी किया जा सकता है। यथा—

१/३२ भा. को 'वृक्ष शब्दे व शब्देन सह' के स्थान पर 'वकारेण सह' कहना चाहिए था, जिसे अन्य सभी टीकाकार स्वीकार कर रहे हैं।

४/१७ भा. का इसे ४/१६ के बाद पढ़ना असंगत है। इसे ४/१४ के ही पश्चात् (जैसा मार्क. रा. श. कर रहे हैं) रखना चाहिए था, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध ४/१४ से है, और यह उसी का अपवाद है।

४/२५ भा. की व्याख्या में यहीं पर अन्य बहुवचन से नियम प्राप्त हो रहे हैं, जिनका विवेचन असंगत प्रतीत होता है। डा० डी. सी. सरकार ने इनकी प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हुये इन्हें क्षेपक स्वीकार किया है, क्योंकि प्रा. मं. इनसे परिचित नहीं है।

४/२७ भा. का 'बृन्दे वो रः' पाठ त्याज्य है और उदाहरण 'ब्रंद' भी इसके स्थान पर प्रा. मं. का 'बृन्दे दोरः' पाठ उत्तम है।

५/२५ भा. का सूत्रपाठ अन्यत्र अप्राप्त, असंगत और अमान्य है। इसे भा. में दोषक माना जा सकता है।

७/२ भा. के सूत्रपाठ में शब्द-क्रम उलट गया है। प्रा. मं. का पाठ मान्य है। सब उसी का अनुकरण कर रहे हैं।

भा. की व्याख्या में उपर्युक्त प्रकार की अपूर्णताओं और त्रुटियों की संख्या उसके भगीरथ प्रयत्न और उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य को देखते हुए नगण्य है। उत्तरवर्ती सभी टीकाकार और प्राकृत व्याकरण भामह के पद चिन्हों पर चलकर अपने-अपने कार्य निर्वहन में समर्थ हुये हैं। आदि से अन्त तक उनकी टीकाओं/वृत्तियों/और सूत्रों में भामह का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। भामह की मनोरमा वृत्ति के अभाव में उनके अस्तित्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती थी।

संक्षिप्त संकेत सूची—

त. = तद्रूप

त+ = तद्रूप एक आध अतिरिक्त शब्दों के साथ।

त- = तद्रूप एक आध शब्दों के अन्तर से।

प्रा. मं. = प्राकृत मञ्जरी।

पु. = पुरुषोत्तम।

भा. = भामह।

मार्क. = मार्कण्डेय।

रामपा. = राम पाणिवाद।

रा. श. = राम शर्मा।

ल. त. = लगभग तद्रूप।

व. = वररुचि।

वा. = वाररुचि।

सं./संजी. = संजीवनी (कार वसन्तराज)।

सु. = सुबोधिनी।

हे. च. = हेमचन्द्र।

संदर्भ—

१- मनोरमावृत्तिकार भामह, प्राकृत मञ्जरीकार,

सुबोधिनीकार सदानन्द, संजीवनीकार वसन्तराज और वृत्तिकार राम पाणिवाद।

२-३-देखिए—डा० मनोमोहन घोष 'प्राकृत कल्प तरु' (प्र.) दि एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, १९५४, भूमिका पृष्ठ XVIII; पं. बलदेव उपाध्याय 'प्राकृत प्रकाशः' (प्र.) वाराणसी संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी १९७२, प्रस्तावना, पृ. १६।

४- देखिए रिचार्ड पिगल 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' (अनु. डा. हेम चन्द्र जोशी), (६.) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८, ४३३।

५- डा० कृष्ण चन्द्र आचार्य, 'प्राकृत सर्वस्वम्' (प्र.) प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, १९६८, भूमिका पृ. १५२।

६- देखिए- 'प्राकृत प्रकाशः' (प्र.) विद्या विलास प्रेस, बनारस, १९२० (पं. उदयराम डवराल शास्त्रिणा संशोधितम्) अनुच्छेद १, २ और ८ के अन्त में। सूत्रपाठ के अनन्तर 'इति वररुचि कृत प्राकृत सूत्रेषु' पुष्पिका है और व्याख्या के अनन्तर 'इति भामह विरचिते प्राकृत प्रकाशे' है।

७- अनुच्छेद १० के अन्त में भी ऐसा ही है।

८- यथा-परिच्छेद ३ से ७, ९ और ११ में 'इति प्राकृत प्रकाशे' पुष्पिका है। और मनोरमा वृत्तिके बाद है।

९- इससे यह भी अनुमान किया गया है कि भामह की मनोरमा वृत्ति भी मूलतः वहीं तक थी। पैशाचकादि परिच्छेद किसी अज्ञात लेखक द्वारा कालान्तर में उसमें संयुक्त कर दिए गए हैं। इनसे न वररुचि से कोई सम्बन्ध है और न भामह का। अन्यथा सभी टीकाकार उनसे अपरिचित, और उनके प्रति मौन कैसे रह सकते थे।

१०- देखिए- नित्य दोल्ची 'दि प्राकृत ग्रमेरियन्स' (अनु. प्रभाकार झा) (प्र.) मोतीलाल बनारसीदास, १९७२; ११४ और २७५।

११- देखिए-नित्य दोल्ची, २४१३।

१२- जैसा कि रामपाणिवाद और मार्कण्डेय ने (प्राकृत सर्वस्वम् में) किया है।

१३- इनमें से ६०-६५% शब्दों को सभी टीकाकारों और व्याकरणों ने, ८०% शब्दों को प्रा. मं. कार ने, और ६०% तक शब्दों को हे. च. ने अपनी व्याख्या में सुरक्षित रखा है। भामह के केवल १०-१२ शब्द ऐसे हैं, जिनका अन्यत्र अभाव है।

१४-संजी. सु., प्रा. मं. और मार्क. ने अपनी-अपनी व्याख्या में, और राम शर्मा सूत्र में ही विशेष रूप से पढ़ते चलते हैं।

२३-

वररुचि के सर्वमान्यसूत्र

१५- १/२८, २६; २/३०; ३/१८ और ३/३०।

१६- १/२४ मधूकादि, ३/५ सर्वज्ञ तुल्येषु, ३/६५ पद्मादि को संजी. सु. और २/२६ क 'यथादि' को प्रा. मं. और रामपा.।

१७-केवल रामपा. न इसे आकृतिगण मानता है और न गण ही। शेष सभी को मान्य हैं।

१८- १/४२ को मा. का आकृतिगण कहना कुछ विचित्र लग रहा है। केवल ३ शब्द पढ़ रहा है, और 'कौशल' शब्द में स्वयं ही विकल्प बतला रहा है।

१९- हे. च. इसकी पुष्टि कर रहा है।

परिच्छेदाङ्क	परि० में कुल सूत्र की सं०	सर्वमान्य सूत्रों की संख्या	विशेष टिप्पणी
प्रथम	४४	१, २, ४, ६, ८, १०, १२, १३, १५, १८, २१, २२, २३, २५, २६, २७, २८, ३२, ३५, ३७, ३८, ४१, और ४४ = २३	
द्वितीय	४७	१, २, ३, ७, ८, १०, १२, १३, १४, १५, १६, १७, २०, २१, २२, २३, २४, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३८, ३९, ४३, ४४, ४५, ४६ और ४७ = ३३	
तृतीय	६६	२, ४, ६, ७, ८, १०, ११, १२, १४, १५, १७, १८, १९, २१, २२, २४, ३०, ३२, ३३, ३४, ३५, ३८, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४८, ५०, ५२, ५४, ५७, ६१, ६४ और ६६ = ३५	
चतुर्थ	३४	४, ५, ६, ७, ८, ९, १५, १६, १९, २०, २१, २२, २३, २५, २८, ३१, ३२ और ३३ = १८	४/८ का केवल रामपा. में, ४/२५ का केवल भा० में अभाव है।
पञ्चम	४७	२, ३, ४, ६, ७, ८, १०, १५, १७, १८, २०, २१, २३, २४, २७, २९, ३४, ३५, ३६, ४१, ४३ और ४६ = २२	५/२०, २१, और २३ पर सु०*
षष्ठ	६४-६५	२, ३, ४, १३, १४, १७, १८, २०, २४, २५, २९, ३२, ४५, ४६, ४९, ५०, ५३, ५४, ५८ और ६४ = २०	६/१३ में संशोधन अपेक्षित है।
सप्तम	३४	१, ५, ६, ८, १०, ११, १२, १४, १५, १८, १९, २२, २३, २४, २९, ३०, ३१, ३२, ३३ और ३४ = २०	
अष्टम	७१	३, ४, १५, १७, १८, २३, २४, २९, ३०, ३४, ३७, ३९, ४०, ४३, ५५, ५०, ५४, ५८, ६२, ६३, ६४ और ७१ = २२	
नवम	१८	१, ४, ९ और १८ = ०४	
१ से ९ का कुल योग	४२५-४२६	१९७	

*टीकाकार और ५/४१, ४२ पर सजा० टाका अप्राप्त है। किन्तु शेष चार टीकाकारों का पाठ एक है।

२१- इनमें से २ सूत्रों ६/२७ और ८/५२ का प्रा. मं.
में अभाव नित्य दोल्ची स्वीकार नहीं करती हैं।

२२- २/८, ४२; ३/४७, ५६; ४/१४, २५क; ५/१,
२५/३०, ३२; ६/६, २२, २३; ७/२६, २८;
८/२६, ३१, ४६, ५१ और ६०।

२३- यथा २/१, २; ३/४, ५/१, ६१; ५/१, ६/१७,
५२ और ५८ इत्यादि।

२४- एक ही आदेश का विधान व. ने दो सूत्रों में क्यों
किया? इसे स्पष्ट किया है।

२५- केवल हे. च. १/२०६ की व्याख्या में 'पडिसारो'
दे रहा है।

२६- मार्क. और रा. श. का मत मिश्र है।

२७- केवल हे. च. इसे पढ़ रहा है।

२८-२९- हे. च. इसकी पुष्टि कर रहा है।

३०- यथा ३/१, ५० की। ३/१ की व्याख्या उदा-
हरणों से परिपूर्ण है। प्रत्येक के दो-दो उदाहरण
दिए हैं। २-३ उदाहरण अप्रचलित हैं।

३१- यथा १/१६; २/१८; ५/३७, ७/३३ की।

३२- यथा ३/६० की।

३३- वक्रादि में वस्तुतः बिन्दुरागम नहीं होता।

मूलतः बुद्ध्यमान रेफ के स्थान पर 'बिन्दु
आदेश' होता है। जहाँ मूलतः रेफ नहीं है,
उनमें बिन्दु 'सादृश्यमूलक' है। किन्तु किसी भी
टीकाकार / वैयाकरण ने इस तथ्य का उद्घाटन
नहीं किया है।



अवध की नृत्य परम्परा

—डॉ० पुरु दाधीच

कला, साहित्य व संस्कृति के अन्य प्रभागों के समान ही नृत्य के क्षेत्र में भी अवध प्रान्त अत्यन्त प्राचीन काल से ही अग्रणी रहा है। यह तो सर्वविदित ही है कि कोसल-प्रदेश भगवान् रामचन्द्र द्वारा शासित था। उनके उदार-चरित का सबसे प्रामाणिक इतिवृत्त महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण के रूप में सुरक्षित है। जिस भारतीय सभ्यता व संस्कृति ने वैदिक काल में आर्यों के साथ-साथ अपने पैर सगस्त 'मध्यप्रदेश' पर जमाए थे, उसका पूर्ण विकास रामायण काल में ही हुआ। और वैदिक युग में गंगादि के अवसर पर सम्पन्न होने वाले सामूहिक नृत्य-गीतादि जिन्हें 'समरस' कहा जाता था (तथा बौद्ध युग जो 'समज्जा' नाम से जाने-जाने लगे) का विस्तृत रूप भी इसी ग्रन्थ में देखने को मिलता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ आमसजील ने अपनी पुस्तक 'दी सिविलाइजेशन ऑफ द्रविड पीरियड' में लिखा है कि 'रामायण काल में हमें जितने उत्कृष्ट एवं सुरम्य संगीत की मनोरम झाँकी मिलती है उतनी इससे पूर्व के कालों में कहीं नहीं। इस काल के मनुष्यों में जो सौम्यता, जो सुन्दर कल्पना, जो प्रभावशाली उमंग एवं जो आनन्द पूर्ण चेतना प्राप्त होती है वह संगीत के कारण ही। रामायण काल में जब राजा स्वतः ही संगीत के मर्मज्ञ थे तो फिर उनकी प्रजा क्यों न होगी? ... इस काल में संगीत के तीनों ही उपकरणों-गायन, वादन, व नृत्य की भरपूर उन्नति हुई।'।

आमसजील के उपर्युक्त कथन के प्रकाश में जब हम रामायण की ओर निहारते हैं तब हम पाते हैं कि नृत्य, गीत, चित्रादि कलाओं को उस युग में 'शिल्प' के अन्तर्गत माना जाता था (जो उत्तर वैदिक कालीन परम्परा है)। जनसामान्य की शिल्प के प्रति गहरी अभिरुचि

थी और शिल्पकार का बड़ा सम्मान था। महामुनि ने जहाँ एक ओर श्री राम को 'वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञाता' बताया है वहीं दूसरी ओर रावण को भी बाँहें फैलाकर शिव के समक्ष नृत्य करते हुए चित्रित किया है—

प्रसार्य हस्तान् प्रननत चाग्रतः ।¹

उस युग में संगीत-नृत्यादि नारी-शिक्षा के अनिवार्य अंग थे। अयोध्या ही नहीं रावण के अन्तःपुर की स्त्रियाँ भी इन कलाओं में निपुण थीं (द्रष्टव्य-रामायण-५/१०/३७-४७)। वे जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, विजयोत्सव, राज्याभिषेक जैसे सामाजिक आयोजनों के अवसर पर अपनी कला के प्रदर्शन द्वारा सामूहिक उत्साह की अभिव्यक्त करती थीं। इन कुल बहुओं के अतिरिक्त श्रीराम के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने वाले सम्भ्रान्त लोगों में नट-नर्तकों का भी नाम आया है (अयोध्या काण्ड ३/४/१५)। अश्वमेध यज्ञ के समय भी नट-नर्तक ठीक वैसे ही उपस्थित थे (७/७१) जैसे जन्मोत्सव के समय राजमार्ग पर नट-नर्तकों की भीड़ लगी हुई थी—

रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः ।²

इस प्रकार रामायण में नट, (२/६/१४), नर्तक (१/१३/७) और शैलूष जैसे व्यावसायिक रंगकर्मियों के अतिरिक्त गणिकाओं का भी प्रचुर मात्रा में उल्लेख प्राप्त होता है। आदि कवि ने लिखा है कि उस समय अयोध्यापुरी में सर्वत्र गणिकाओं तथा नाटक-मण्डलियों के सङ्घ वर्तमान थे—

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ।³

इन नटों नर्तकों और गायकों की कर्णमुखद वाणी को जनता बड़ी तन्मयता से सुनती थी—

नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम् ।

यतः कर्णसुखा वाचः सुश्राव जनता ततः ॥⁴

नट-नर्तकों की इस स्वतन्त्रता तथा लोकप्रियता को देख कर तत्कालीन समाज की सुख-समृद्धि के साथ ही कल्याणकारी शासन का भी पता चलता है । समाज और शासन की इस सुव्यवस्था में ही कलाओं और कलाकारों की उन्नति सम्भव हो सकती है । महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं भी कहा है कि सुशासनहीन जनपद में नट-नर्तक प्रसन्न नहीं दिखाई देते—

नीराजने जनपदि प्रहृष्ट नटनर्तकाः ।

इसी प्रसंग में यह जान लेना भी रुचिकर होगा कि रामायण में नृत्य (२/२०/१०), नृत्त (४/५/१७) और नास्य (२/६७/४) आदि का उल्लेख मात्र ही नहीं किया गया है अपितु उनकी प्रविधियों पर भी प्रकाश डाला गया है । इससे ज्ञात होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व ही नृत्य, नृत्त और नास्य आदि के स्वरूप व उनकी पारस्परिक भिन्नता का प्रतिपादन हो चुका था । किन्तु हमें मात्र यहीं सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए । नृत्य के क्षेत्र में इस युग की सर्वप्रमुख घटना आज की उत्तर भारत की प्रतिनिधि शास्त्रीय नृत्यशैली 'कथक' का उद्भव है । कहा जाता है कि भगवान् राम के दरबार में लव और कुश ने वाल्मीकि रचित रामायण का साभिनय गायन कर जनमानस को प्रभावित करके ही अपने छीन लिये गये अधिकार को प्राप्त कर लिया था । तब लव-कुश द्वारा प्रदत्त इस मार्ग का ग्रहण व अनुसरण जिन नटों द्वारा आजीविका के रूप में किया जाने लगा वे ही लवकुश की पावन स्मृति में 'कुशीलव' कहे जाने लगे । शब्दकल्पद्रुम के अनुसार कुशीलव वृत्ति के जनक होने से शास्त्रीय परम्परानुसार महर्षि वाल्मीकि की पृथक् 'कथक' है । और कथक नृत्य की प्रथम रंगस्थली भी अयोध्यापुरी ही सिद्ध होती है—

'कुशीलववृत्त्यर्थं नाट्यशास्त्रप्रचारकत्वात् वाल्मीकि मुनिः ।'

इस बात का अनुमोदन भरत के नाट्यशास्त्र से भी होता है, जहाँ कहा गया है कि जो विभिन्न प्रकार के वाद्य - यंत्रों को बजाने में कुशल हैं और जिन्होंने

कुशलव के दातव्य (कथाभिनय) पर अधिकार प्राप्त किया है, वे ही 'कुशीलव' कहे जाते हैं—

नानातोयविधानप्रयोयुक्तः प्रवादने कुशलः ।

कुशलवदातव्याधीतं यस्मात् तस्मात् कुशीलवः स्यात् ॥

'कुशीलव' शब्द संस्कृत नाट्य-साहित्य में जहाँ अत्यन्त लोकप्रिय है वहीं संस्कृत के समस्त कोश-ग्रन्थों 'कुशीलव' व 'कथक' शब्द परस्पर पर्याय माने गए हैं । आज भी सम्पूर्ण अवध-प्रान्त में कथकों के ऐसे सैकड़ों अवस्थित हैं जो पारम्परिक रूप से कथा-करके ही अपनी आजीविका चलाते हैं । श्रवण मास में "झूलनोत्सव" के अवसर पर अयोध्या के मन्दिर-मन्दिर में इन कथकों को बड़ी संख्या में अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए देखा जा सकता है । "रामलीला" और "रासलीला" की परम्परा का प्रारम्भ भी इन्हीं कथकों के द्वारा हुआ है और "हरि-कथा" की वह पावन मन्दाकिनी, जिसने सम्पूर्ण भारत के नाट्य-आन्दोलन को प्रभावित किया है, वह भी इन्हीं कथकों की देन है ।

मुगल काल के अन्तिम चरण में अवध-प्रान्त की राजधानी लक्ष्मण जी की नगरी "लखनऊ" बनी और यहीं १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वर्तमान कथक नृत्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण "लखनऊ-घराने" का नबाव आसफुद्दौला और नयाब वाजिद अली शाह के प्रश्रय में हुआ । कहा जाता है कि इसी काल में इलाहाबाद की इँटिया तहसील के चिलबिला ग्राम-वासी पं. ईश्वरी प्रसाद जी मिश्र को भगवान् कृष्ण ने कथक (नटवरी) के नृत्य का पुनरुद्धार करने के लिए स्वप्न में नृत्य का भागवत बनाने का आदेश दिया । ईश्वरी प्रसाद जी इस कार्य में जुट गए और उन्होंने ८० वर्ष की आयु में इस कार्य को पूर्ण किया तथा १०० वर्ष की आयु तक अपने तीन पुत्रों-अडगूजी, खडगूजी व तुलाराम जी को इसकी शिक्षा प्रदान की । १०५ वर्ष की आयु में इन्हें नागपंचमी के दिन सर्प ने डस लिया । इनकी पत्नी भी इनके साथ सती हो गई । पिता की इस स्थिति को देखकर खडगूजी ने नृत्य छोड़ दिया और तुलाराम जी ने वैराग्य ले लिया । अड-

गूजी के तीन पुत्र हुए—प्रकाशजी, दयालजी व हरिलाल जी। पिता की मृत्यु के बाद प्रकाशजी अपने दोनों भाइयों सहित लखनऊ आ पहुँचे और नवाब आसफुद्दौला के दरबारी नियुक्त हुए। प्रकाशजी के तीन पुत्र हुए महाराज मान जी, ठाकुर प्रसाद जी व दुर्गाप्रसाद जी। ठाकुर प्रसाद जी नवाब वाजिद अली शाह के गुरु नियुक्त हुए। गुरु-दक्षिणा में छः पालकी भर रूपया दिया गया। इनकी गणेश परत बहुत प्रसिद्ध थी। दुर्गा प्रसाद जी के तीन पुत्र हुए—बिन्दादीन, कालका प्रसाद व भैरो प्रसाद। महाराज बिन्दादीन की नृत्य शिक्षा नौ वर्ष की अवस्था से ही आरम्भ हो गई थी। चार वर्ष तक केवल “तिग् दा दिग-दिग” इन चार बोलों का ही अभ्यास कराया गया, जो नित्य प्रति १२-१२ घंटे तक चलता था। बिन्दादीन जी ने लगभग १५०० ठुमरियों का तथा उनके भाव के अनुसार अंगों का निर्माण कर आश्चर्यजनक कार्य किया। उस समय की अनेक तवायफों—जोहराबाई और गोहरजान जैसी गायिकाओं को इन्होंने ठुमरी की शिक्षा दी थी। अपने छोटे भाई कालका प्रसाद के साथ मिल कर इन्होंने “कालका-बिन्दादीन” युगल नाम की ख्याति देश भर में फैला दी। कालका प्रसाद जी के तीन पुत्र हुए—जगन्नाथ प्रसाद उर्फ अच्छन महाराज और शम्भू महाराज। अच्छन महाराज के पुत्र बिरजू महाराज तथा शम्भू महाराज तथा इनके दो युवा पुत्र कृष्णमोहन व राममोहन। ये इन दोनों घरानों की कला का प्रचार प्रसार करने में लगे हैं।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में वर्तमान नृत्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण “लखनऊ घराने” का उदय नवाब आसफुद्दौला तथा नवाब वाजिद अली शाह के प्रश्रय में हुआ। नवाब वाजिद अली शाह (१२६२ डिजरी) अपनी शान-और-शौकत व कला समर्पिता के लिए संसार प्रसिद्ध हो चुके हैं। इन्हें बचपन से ही श्रेष्ठ संगीतिक संस्कार प्राप्त हुए थे। कथक नृत्य की विधिवत् शिक्षा उसने ६वर्ष की अल्पायु से ही महाराज ठाकुर प्रसाद जी से प्राप्त की थी; वह इस शैली के अन्तर्गत अभिनय के तीनों अंगों—नाट्य, नृत्य व नृत्य को पुनः समुद्र कर उन्हें

अपने प्राचीन वैभवपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित करने के लिए कृत-संकल्प था। इस महती आकांक्षा की पूर्ति के लिए उसने गायक, वादक व नर्तक-नर्तकियों के एक बड़े समूह को अपने यहाँ उँचा वेतन देकर एकत्रित किया था। वह पहले उन्हें स्वयं प्रशिक्षित करता था और फिर अन्य पात्रों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए उनकी नियुक्ति करता था। उसने “नाजो” और “बन्नी” नामक दो पुस्तकें भी लिखी थी। “बन्नी” में जिन कलाकारों के नाम दिए गए हैं वे इस प्रकार हैं—

१-कायम खाँ नर्तक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों को नृत्य की शिक्षा देने वाले।

२-पीर खाँ गायक—वाजिद अली शाह के दरबारी कलाकार, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

३-कलंदरबख्श नर्तक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों को नृत्य की शिक्षा देने वाले।

४-हैदर खाँ गायक—वाजिद अली शाह के शिष्य, ताज खाँ की बहन का पुत्र दरबारी कलाकार।

५-अली बकश खाँ गायक—वाजिद अली शाह की बेगमों को नृत्य की शिक्षा देने वाले।

६-ताज खाँ गायक—वाजिद अली शाह का शिष्य, बेगमों को नृत्य सिखाने वाला।

७-निसार अली खाँ—वाजिद अली शाह का शिष्य, पखावजी (इसे वाजिद अली ने ३ साल में धीमे त्रिताल में ५२ प्रकार की लय सिखाई थी।)

८-इनायत खाँ गायक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

९-ख्वाजा बख्श तबला वादक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

१०-हैदर अली नर्तक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

११-मोहम्मद हुसेन नर्तक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

१२-फजल ईमाम गायक—वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

- १३- गुलाम मोहम्मद कानून वादक-वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।
 १४- विशन नर्तक- वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।
 १५- अहमद खाँ गायक-वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।
 १६- गुलाम अब्बास नर्तक-वाजिद अली शाह के शिष्य, बेगमों के नृत्य शिक्षक।

यह सभी कलाकार वाजिद अली शाह द्वारा प्रस्थापित "परीखाना" में नियुक्त थे। इनके अतिरिक्त अन्य कलाकारों व तत्कालीन नृत्य शैली का विस्तृत विवरण सादिक अली खाँ देहलवी द्वारा रचित भआदनुल मौसिकी उर्फ कानून-ए-मौसिकी, नवाब साहब जानी रचित "नगमातुल हिन्द, स्वयं वाजिद अली शाह की रचनाएँ-सौत-उल-मुबारक व गुंच-ए-रंग तथा इसी प्रकार संगीत मुक्तावली, संगीत मकरंद आदि ग्रंथों में प्राप्त होता है। इन सब विवरणों से विदित होता है कि नवाब वाजिद अली शाह, जैसा कि उसके नाम के साथ जुड़ी भ्रान्तियों का विषय है, मात्र एक विलासी शासक ही नहीं था। वह तमाम बादशाहों व नवाबों की परम्परा में सबसे गढ़ा गुणग्राही व कलानुरागी था। कथक नृत्य के सर्वांगीण विकास व उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए उसने न केवल व्यक्तिगत प्रयास किए वरन् उसने उन समस्त साधन-सामग्रियों को भी बड़ी यात्रा में एक ही स्थान पर

जुटाया जो इसकी नवीन रूप-रचना के लिए आवश्यक प्रतीत हुई। इसी के परिणाम स्वरूप "रहस" और "इन्दर सभा" के रूप में भारतीय नाट्य कला का पुनरुद्धार हुआ, कथक नृत्य के बिखरे हुए "नृत" रूप को प्रदर्शन का प्रभावशाली क्रम प्राप्त हुआ और नृत्य के क्षेत्र में "ठुमरी भाव" व "गती" की अभिनव सृष्टि का एक नवीन दिशाबोध दिया, जिसके लिए भारतीय नृत्य कला सदैव वाजिदअली शाह की ऋणी रहेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नृत्य के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के आदि काल से ही अवध प्रान्त ने पय-प्रदर्शक की भूमिका का निर्वहण किया है। कला के आध्यात्मिक व लोकरंजक दोनों ही रूपों का यहाँ समान रूप से विकास हुआ है। सम्पूर्ण उत्तर भारत की प्रतिनिधि शास्त्रीय नृत्य-शैली "कथक" की यह उद्भव-स्थली है। महाराज प्रकाश जी, ठाकुर प्रसाद जी, विन्दादीन जी व शम्भू महाराज जैसे लोकोत्तर कलाकार इसी प्रान्त की देन हैं और विरजू महाराज जैसे कलाकारों से वह गौरव परम्परा आज भी गतिमान है।

संदर्भ :-

- १- रामायण ७-३१-७४
 २- " १-१८-१६
 ३- " १-५-१२
 ४- " २-६७-१५



चित्त : व्यापार : उनका निरोध

—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी

चित्त का विवेचन सम्प्रति मनोविज्ञान का विषय माना जाता है, जो कि सामान्यतः आधुनिक युग का चिन्तन कहा जाता है, किन्तु भारतीय मनीषियों ने इसका विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ईशा से सैकड़ों वर्ष पूर्व भली प्रकार किया था। आज जब मनोविज्ञान के क्षेत्र में परीक्षण के लिए तमाम उपकरणों से भरी प्रयोगशाला की बात की जाती है, तब यह सोचकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उस पूर्व काल में बिना प्रयोगशाला के और बिना परीक्षण के साधनों के किस प्रकार इतना सूक्ष्म चिन्तन किया गया होगा।

सांख्य दर्शन की परम्परा में चित्त को भले ही पवीस तत्वों में स्वतन्त्र नाम देकर प्रतिष्ठा नहीं दी गई¹ किन्तु महत् तत्त्व के रूप में उसकी स्वीकृति करते हुए आचार्यों ने न केवल उसके अस्तित्व को स्वीकार किया था बल्कि उसके उपादान कारणों के सम्बन्ध में भी एक स्पष्ट संकेत कर दिया था। सांख्य शास्त्र के आचार्यों के अनुसार महत् तत्त्व (चित्त) की उत्पत्ति प्रकृति के द्वारा सर्वप्रथम होती है। उसकी उत्पत्ति में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण उपादान कारण होते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् कोई द्रव्य नहीं हैं; ये केवल तीन शक्तियाँ या धर्म हैं, जिनमें से प्रथम (सत्त्व) को प्रकाशकारूप, द्वितीय (रजस्) को गतिशीलत्वरूप और तृतीय अर्थात् तमस् को प्रतिबन्धकता अथवा आवरकता रूप कहा जा सकता है। इन तीन गुणों से निर्मित होने के कारण चित्त में भी मात्रा भेद से तीनों ही धर्म रहा करते हैं। वह न केवल स्वयं को प्रकाशित करता है, अपितु स्वयं में प्रतिबिम्बित अर्थों को भी प्रकाशित करता है। वह

न केवल स्वयं गतिशील है, बल्कि उसके कारण गति का सृजन होता है। उसमें विद्यमान आवरकता एवं प्रतिबन्धकता के कारण उसका एक परिमाण निश्चित होता है और परिमित मात्रा में ही उसमें इतर अर्थों का प्रतिबिम्बन हुआ करता है।

चित्त के उपर्युक्त औपादानिक विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चित्त के द्वारा ही हमें सभी अर्थों का प्रकाश मिलता है। अर्थों की हेयता और उपादेयता का बोध होता है, उसके कारण ही प्राणिमात्र के समस्त व्यापार चलते हैं और उसके कारण ही एक नियमितता और व्यवस्था दिखाई पड़ती है।

चित्त विविध प्रत्ययों का अधिकरण होता है। इसमें न केवल ज्ञान (प्रमा) की प्रतिष्ठा होती है, अपितु ज्ञान की जितनी भी संभावित कोटियाँ हो सकती हैं, सब इसमें ही प्रतिष्ठित होती हैं। इन प्रत्ययों के आधार पर ही हम चित्त के स्वरूप को जान पाते हैं। अन्यथा वह चित्त ज्ञान का विषय नहीं बन पाता। ये प्रत्यय ही चित्त के व्यापार हैं। पतंजलि के अनुसार चित्त के ये व्यापार पांच प्रकार के हो सकते हैं—(१) यथार्थ ज्ञान और उसकी प्रक्रिया। (२) विपरीत ज्ञान और उसकी प्राप्ति प्रक्रिया। (३) काल्पनिक ज्ञान और उसकी प्रक्रिया, जिसमें प्रतिभासित अर्थ की कोई वास्तविक सत्ता तो नहीं होती किन्तु कल्पित होने के कारण वह वाग्व्यवहार का विषय होता है। (४) अभाव प्रत्यय का आलम्बन अर्थात् समस्त अर्थों का परित्याग रहते हुए भी चित्त का व्यापार होना। यह स्थिति तमोगुण की अधिकता के कारण हुआ

करती है। (५) पूर्व अनुभूत अर्थों का स्मरण। योग की पारिभाषिक शब्दावली में इन पाँच व्यापारों को क्रमशः प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति कहा जाता है।^३

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है— 'चित्त' के उपादानों में रजस् भी अन्यतम है जिसके फलस्वरूप गतिशीलता भी चित्त का एक स्वाभाविक धर्म है जो कभी भी समाप्त नहीं हो सकता। जब कभी उसकी समाप्ति होगी उस समय चित्त का भी अपने कारण में विलय हो जायगा। अतएव योगी द्वारा जिसे चित्त-वृत्तियों का निरोध अथवा समाधि अवस्था कहा जाता है, उस अवस्था में भी चित्त के व्यापार का समग्ररूप से निरोध नहीं होता। यह दूसरी बात है कि पतंजलि ने योग सूत्र के प्रारम्भ में ही स्थूल रूप से चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कह लिया है। चित्त के इस छूटें व्यापार की अवस्था में चित्त में द्रष्टा और दृश्य इन दोनों की उपरक्तता का सांकर्य नहीं रहता बल्कि चित्त एकाग्रता की स्थिति में केवल दृश्य-मात्र का ही साक्षात्कार करता है।^४ यह स्थिति निद्रा की स्थिति से भिन्न है, क्योंकि निद्रा की स्थिति में तमोगुण के उदय के कारण अर्थ प्रकाशित नहीं होते; अतः चित्त केवल अभाव-प्रत्ययों का आलम्बन होता है,^५ जबकि इस स्थिति में चित्त में प्रतिबिम्बित दृश्य ही (केवल एक दृश्य) प्रतिष्ठित रहता है, कोई इतर दृश्य नहीं। इस प्रकार व्यापार के आधार पर चित्त की छः स्थितियाँ कही जा सकती हैं। जिनमें से प्रथम पाँच के निरोध के लिए योगी निरन्तर प्रयत्न करता है।

चित्त के ये पाँच व्यापार एक कोटि के हैं और छठा व्यापार दूसरी कोटि का। प्रथम कोटि के व्यापार अर्थात् प्रमाण (जिसमें यथार्थ ज्ञान और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया दोनों ही समाहित हैं);^६ विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति कभी क्लेशजनक होते हैं और कभी अक्लेशजनक। पतंजलि ने यद्यपि चित्तवृत्तियों की चर्चा करते हुए स्वयं विलम्ब और

अविलम्ब पदों का प्रयोग किया है, जिसका सामान्यतः अर्थ क्लेशानुभूति अथवा क्लेशरहित अनुभूति लिया जाना चाहिए, किन्तु योगसूत्र के भाष्यकार महर्षि व्यास ने स्पष्ट शब्दों में विलम्ब पद का अर्थ क्लेशहेतु-रूप और अविलम्ब पद का अर्थ अक्लेशहेतुकरूप स्वीकार किया है^८। एक अन्य स्थल पर चित्त के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने उसकी एक नदी से उपमा दी है जो कल्याण और पाप दोनों ही प्रकार के फलों को देने में सक्षम है। वह जब विषयोन्मुख होता है, तो उससे क्लेश की अनुभूति हुआ करती है और जब विवेकोन्मुख होता है तो उससे कल्याण की अथवा सुख की उत्पत्ति होती है^९। यहाँ पाप और कल्याण का तात्पर्य केवल संसारोन्मुखता और विवेकज्ञानोन्मुखता ही न होकर दुःख और सुख के हेतु से भी समान रूप से है। क्योंकि सुख राग की सृष्टि करता है और दुःख द्वेष की; तथा राग और द्वेष दोनों की ही अविद्या मूल प्रसव भूमि है अर्थात् वे उससे ही उत्पन्न भी होते हैं, अतः सुख हेतुक और दुःख हेतुक दोनों ही प्रकार के व्यापार अविद्या से संपृक्त रहते ही हैं। अतः ये दोनों ही परमार्थतः क्लेश के जनक हैं^{१०}।

व्यास द्वारा चित्त के स्पष्टीकरण के लिए दी गई नदी की उपमा से यह भी विदित है कि महर्षि व्यास चित्त को सतत गतिशील मानते हैं। वैराग्य के द्वारा जब उसके स्रोत को सुखा दिया जाता है अर्थात् उसकी गतिशीलता समाप्त कर दी जाती है तब चित्त का एकान्त निरोध होता है^{११}। जिसका परिणाम चित्त का अपने कारण में लय हो जाना है। इस प्रकार गतिशीलता स्वभाव होने के कारण चित्त का निरोध भी उसकी गतिहीनता का अभिघात नहीं करता अपितु अनेक विषयों के साक्षात्कार से हटकर केवल एक विषय दृशि मात्र के साक्षात्कार में व्याप्त रहता है।

ऊपर की पंक्तियों में यह कहा गया कि चित्त विविध कोटि के ज्ञानों का अधिकरण है और उसमें

निरन्तर किसी न किसी विषय का ज्ञान विद्यमान रहता है। इसी सन्दर्भ में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चित्त में एक समय में दो विषयों का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। न्यायशास्त्र में इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए उसके कारण के रूप में मन को स्वीकृति दी गई है¹²। पतंजलि ने भी बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि चित्त में दो विषयों का (स्वरूप और अर्थ का) ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता¹³। क्योंकि यदि कदाचित् चित्त में एक साथ दो विषयों का ग्रहण होने लगे तो उन ज्ञानों के संकीर्ण हो जाने के कारण दोनों ही विषयों के स्वरूप का अवधारण विश्रुत्खलित हो जायेगा। जब कभी मानव एक साथ अनेकों वस्तुओं का साक्षात्कार कर रहा है, ऐसा उसे भान होता है; अथवा स्वादिष्ट भोजन के ग्रहण करने के समय उसकी कोष्णता का, उसकी सुगन्ध का, अनेक मसलों से युक्त उसके मनोरम स्वाद का जब एक साथ साक्षात्कार करता है, उस समय भी वस्तुतः वह ज्ञान एककालिक नहीं होता; बल्कि चित्त की क्षिप्रग्राहिता के कारण पृथक्-पृथक् काल में ग्रहण होते हुए भी सहभाव का भ्रम मात्र होता है। चित्त की यह गतिशीलता अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा संयुक्त रूप से ही निरुद्ध हो सकती¹⁴ है अर्थात् वैषयिक ज्ञान का इतर वैराग्यात्मक ज्ञान से प्रतिरोध होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी मनोरम वस्तु की ओर अथवा मधुर भोजन के ग्रहण की ओर उसके माधुर्य के बोध के कारण प्रवृत्त होना चाहता है, किन्तु साथ ही उस वस्तु के सम्बन्ध में चिकित्सक द्वारा दिए गए निर्देशों के आधार पर हानिकारकता का बोध करता है और यह द्वितीय बोध पूर्व बोध से उत्पन्न प्रवृत्ति को नष्ट करता है। अथवा किसी वस्तु के सम्बन्ध में एक प्रकार का ज्ञान होने पर उसी के सम्बन्ध में पूर्व की अपेक्षा अधिक सबल प्रमाण होने की स्थिति में पूर्व ज्ञान के विरोधी ज्ञान का उदय होता है और पूर्व ज्ञान का बोध होता है। कभी-कभी वैराग्य की स्थिति में प्रत्यक् चेतना अर्थात् आत्म विषयक ज्ञान का उदय होने पर उस ज्ञान से उत्पन्न संस्कार पूर्वज्ञान के उत्पन्न संस्कारों का निरोध

करते हैं¹⁵।

चित्त वृत्तियों के निरोध का यह एक सहज मार्ग है। किन्तु इसका एक दूसरा अंग भी है, वह है अभ्यास अर्थात् सर्वप्रथम साधक शरीर की बाह्यगति के निरोध का प्रयत्न करे। यह कार्य आसन नामक योगाङ्क के माध्यम से होता है। इसके अनन्तर वह प्राणायाम नामक योगाङ्क के द्वारा प्राणों की गति के निरोध का अभ्यास करता है। उसके अनन्तर चित्त के विविध भौतिक विषयों में निरुद्ध करने का प्रयास करता है। एकत्र स्थिरता का अभ्यास होने पर क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर विषयों में चित्त निरोध का अभ्यास करते हुए वह द्रष्टा को ही दृशि के रूप में परिणत करता हुआ उसमें भी अपने चित्त को स्थिर कर ले जाता है¹⁶। चित्त की स्थिरता की ये कोटियाँ यौगिक भाषा में क्रमशः धारणा, ध्यान, समाधि एवं योग के नाम से अभिहित होती हैं।¹⁷ चित्त की सामान्य अवस्था, जबकि उसमें विविध विषयों का ज्ञान हुआ करता है, उसे सर्वार्थता संज्ञा दी गई है¹⁸ और जब विविध विषयों से निरुद्ध होता हुआ चित्त किसी अर्थ में धारणा अवस्था को प्राप्त करके उस अर्थ में ही प्रत्येकतानता अर्थात् स्थिरता को प्राप्त करता है, उस स्थिति को ध्यान कहा जाता है। इस अभ्यास क्रम की तृतीय स्थिति यह है कि सर्वार्थता का पूर्णतः क्षय हो जाता है। एकाग्रता स्थायी बन जाती है।¹⁹ जिसके परिणाम स्वरूप अर्थ मात्र का आभास होता है। उस समय में अमुक विषय का साक्षात्कार कर रहा हूँ,²⁰ यह अनुभूति भी लीन हो जाती है। इस स्थिति को ही पूर्ण चित्त-निरोध अथवा समाधि कहते हैं। चित्त की इस स्थिति में ज्ञान का अभाव नहीं होता अपितु उसमें केवल एक विषयक ज्ञान हुआ करता है। अतः इसे निरुद्ध चित्त कहते हुये भी इसमें क्रिया का अभाव नहीं कहा जा सकता।

सूक्ष्म दृष्टि से चित्त की इस निरुद्धावस्था का विश्लेषण करने पर इसमें पुनः तीन स्थितियाँ होती हैं, ऐसा कहा जा सकता है। प्रथम स्थिति में चित्त किसी भी विषय में स्थित हो सकता है। दूसरी स्थिति में चित्त

में केवल द्रष्टामात्र का साक्षात्कार होता है और तृतीय स्थिति में जिस प्रकार गहन अन्धकार में किसी यन्त्र के माध्यम से छोड़ा हुआ प्रकाश यन्त्र मुख के क्रमशः संकुचित किए जाने पर संकुचित होते-होते वह विलीन हो जाता है। उसी प्रकार द्रष्टा विषयक ज्ञान का भी विलय हो जाता है^{२१} यह विलय न केवल चित्त की ज्ञानावस्था की अन्तिम स्थिति है अपितु चित्त की भी अन्तिम स्थिति है। अर्थात् इस अवस्था में पहुँचते ही चित्त का अपने कारण में लय हो जाता है और चित्तके माध्यम से वैषयिकज्ञान प्राप्त करने वाला पुरुष क्रमशः उनसे परे होता हुआ इस स्थिति में केवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्त ज्ञानमय व्यापार का अधिकरण है। व्यापार उसका स्वभाव है। फल-स्वरूप उसमें ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया, यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि, विपरीत ज्ञान की उपलब्धि, काल्पनिक ज्ञान की उपलब्धि, अमावात्मक तमोमय अवस्था की उपलब्धि तथा पूर्ण ज्ञान का स्मरण ये स्थूल व्यापार हुआ करते हैं। चित्त के इन व्यापारों का वैराग्य अर्थात् विषय सम्बन्धी वितृष्णा के द्वारा भी निरोध हो सकता है अथवा अभ्यास द्वारा इन व्यापारों का निरोध होता है। निरोध हेतु किये जाने वाले अभ्यास की तीन स्थितियाँ हैं। किसी विषय में अल्पकाल तक चित्त की स्थिरता अधिक काल तक उस अर्थ में ही स्थिरता और पूर्ण स्थिरता। पूर्ण स्थिरता की पुनः तीन स्थितियाँ हैं, दृश्य में पूर्ण स्थिरता, दृश्य का ही दृश्य में परिणत हो जाना और उसमें ही चित्त की पूर्ण स्थिरता तथा उसकी ज्ञातता का भी पूर्ण निरोध। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय चिन्तकों ने चित्त के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तन किया है। आधुनिक विचारकों को अभी उस स्थिति तक पहुँचने में पर्याप्त समय लगने की सम्भावना है।

सन्दर्भ :—

१-२- सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्महतोऽहंकारः अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (सांख्यसूत्र - १.६१)

- ३- प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। (योग सूत्र- १. ६) ढुडिराजशास्त्री सम्पादित—चौखम्बा संस्करण, १९८७ वि०)
- ४- योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगसूत्र- १. २)
- ५- (क) द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। (योग सूत्र- ४. २२)
- (ख) सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधिः परिणामः। वही — ३॥
- (ग) तदा तदेवध्यानं ध्येयस्याकारेणैव साक्षिणि निर्भासिते, न तु प्रत्ययाकारनिर्भासं चित्तस्य-ध्येयस्वरूपावेशेनाहमिदं चिन्तयामीत्येव प्रत्ययाकारवृत्त्यन्तरानुदयात्। तदाध्यानमेव समाधिरुच्यते। ... तथाध्यातृध्येयध्यान-कलनावद ध्यानं तद्रहितं च समाधिरिति (योगवार्तिक, पृ० २८४)। साङ्गयोगदर्शन काशी संस्कृत सीरीज ११०, चौखम्बा बनारस, १९३५ ई०।
- ६- (क) अभावप्रत्ययावृत्तिर्निद्रा। योग सूत्र - १. १०
- (ख) सुखमहमस्वाप्सम्प्रसन्नं चेतः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति, दुःखमहमस्वाप्सं सत्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि म्लानं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति; स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न विशेषो निद्रा। (योगभाष्य, पृ० ४०)
- ७- वृत्तयः पञ्चतथ्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च, प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। (यो. सू. १. ५-६)
- ८- क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः, क्लिष्टाः ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिभ्यः क्लिष्टाः, क्लिष्टप्रवाहपतिता अर्धक्लिष्टाः... (योग भाष्य, पृ० २५)
- ९- चित्तनदी नमोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च या तु केवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसार-प्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना पापवहा। यो० भा०, पृ० ४४-४५।

१०- (क) सुखानुशयीरागः । दुखानुशयी द्वेषः । योग सूत्र २. ७-८ ।

(ख) अत्राविद्या क्षेत्रम् - प्रसवभूमिः, उत्तरेषाम्-अस्मितादीनां चतुर्विधकल्पितानाम् । योग भाष्य, पृ० १४४ ।

(ग) चतुर्विधकल्पितानामअस्मिता रागद्वेषा-भिनिवेशानाम् । (योग भास्वती-पृ० १४३) (साङ्ख्ययोगदर्शन, काशी संस्कृत सीरीज ११०, चौखम्बा बनारस, १९३५ ई०)

११- तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते । (योग भाष्य, पृ० ४५)

१२- युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् । (न्याय-सूत्र-१.१.१६) (काशी संस्कृत सीरीज ६३, चौखम्बा बनारस, १९४२ ई०)

१३-(क) एकसमये चोभयानवधारणम् । योगसूत्र, ४-२० ।

(ख) नहि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्संभवोऽस्ति । अत एकस्मिन्काले उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वात् । भोजवृत्ति, पृ० १९६ (दुर्गिराजशास्त्री सम्पादित, चौखम्बा बनारस, १९८७ वि०)

१४-(क) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः । (योगसूत्र, १.१२)

(ख) अभ्यासवैराग्ययोर्निरोधे जनयितव्येऽवान्तरः व्यापारभेदेन समुच्चयो न तु विकल्प इत्यर्थः तत्त्ववैशारदी, पृ० ४४ । (सांग योगदर्शन, काशी संस्कृत सीरीज ११०, चौखम्बा, बनारस, १९३५ ई० ।

१५-(क) तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।

योग सूत्र, १.५० ।

(ख) तथा प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्या-न्त्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारान्प्रति-बध्नाति । भोजवृत्ति, १.५० । दुर्गिराज शास्त्री सम्पादित चौखम्बा संस्करण, १९८७ वि०)

१६-(क) द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । (योग सूत्र, २.२०)

(ख) विषयाः गन्धादयो दिव्याः पञ्चविषयत्वेनास्याः सन्तीति विषयवती प्रवृत्तिः—प्रकृष्टा साक्षा-त्काररूपावृत्तिः योगशास्त्रोक्तप्रकारेण नासाग्रादौ चित्तधारणादल्पकालेनैव जायते । ... सा वा वृत्तिरुत्पन्ना मनसो विष-यान्तरेषु विवेकपर्यन्तेषु स्थितिनिबन्धनी भवति । (भावगणेशवृत्ति, १.३५, पृ० ४२, काशी संस्कृत सीरीज ८३, चौखम्बा, बनारस, १९८७ वि०)

१७- चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिद्वयमेव विषयमेका-ग्रताख्यः परिणामः इत्यर्थः । इयमेकाग्रता द्वादशगुणा धारणा भवति । द्वादशगुणा धारणा ध्यानम् । द्वादशगुणं ध्यानं समाधिः । द्वादशगुणः समाधिः सम्प्रज्ञाताख्यो योग इति भेदः । (मणिप्रभा, पृ० १२५) काशी संस्कृत सीरीज ८३, चौखम्बा बनारस, १९८७ वि० ।

१८-(क) द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तम् सर्वार्थम् । (योगसूत्र, ४-२६)

(ख) सर्वार्थतान्युगपदिव सर्वेन्द्रियेषु विषयग्रहणाय संचरणशीलता । (भास्वती, पृ० २९१)

(ग) चित्तस्य सर्वार्थता नानार्थकारत्वं विक्षिप्त-त्वरूपोद्धर्मः । (मणिप्रभा, पृ० १२४) काशी संस्कृत सीरीज ८३, चौखम्बा बनारस, १९८७ वि०)

(घ) रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वान्पदा-र्थान्गृह्णाति (योगसुधाकर, पृ० १२४, काशी संस्कृत सीरीज ८३, चौखम्बा बनारस, १९८७ वि०)

१९-सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधिः परिणामः । (योग सूत्र, ३-११)

२०-तदैकार्थमात्रनिर्भासंस्वरूपसून्यमिव समाधिः ।

(वही ३.३)

बदरीनाथ ताम्रपत्र का चन्द्रगुप्त

—डॉ० मदन चन्द्र भट्ट

चमोली जिले के बदरीनाथ मन्दिर में सुरक्षित सुभिक्षराज के ताम्रपत्र में उसके पिता तथा कार्त्तिकेयपुर के राजा पद्मटदेव को बलि, वैकर्तन, दधीचि और चन्द्रगुप्त से अधिक दानकर्त्ता घोषित किया गया है।

तिरस्कृताशेष-बलि-वैकर्तन-दधीचि-चन्द्रगुप्त-चरितम्...

इस लेख में किसी संवत् का प्रयोग नहीं है, लिपि के आधार पर यह लेख दसवीं सदी ई० के आसपास का माना गया है। अब समस्या यह उत्पन्न होती है कि दसवीं सदी में बलि और दधीचि की तरह महान् दानी समझा जाने वाला चन्द्रगुप्त कौन था ?

प्रचीन भारत में चन्द्रगुप्त नामक कई शासकों के उल्लेख मिलते हैं जिसमें मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त, गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम और चन्द्र गुप्त द्वितीय के नाम सर्वविदित हैं। लाखामण्डल शिलालेख में जालंधर के राजकुमार चन्द्रगुप्त का नाम मिलता है जिसका सिह-पुर के यदुवंशी राजा भास्करवर्मा की पुत्री ईश्वरा से विवाह हुआ था—

‘...जालंधरनृपसूनोर्जाया श्रीचन्द्रगुप्तस्य ...’

मथुरा से प्राप्त सातवीं सदी के एक लेख में चन्द्र गुप्त नामक एक मौर्य राजा का उल्लेख है जिसके पौत्र कर्क ने हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् कान्यकुब्ज नगर को जला दिया था। संजन ताम्रपत्र के अनुसार राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय और प्रतिहार राजा नाग भट्ट के समय नवीं सदी ई० में भी ‘चन्द्रगुप्त’ नाम का कोई राजा था जिसे गोविन्द तृतीय ने परास्त करने का दावा किया है—

‘स नागभट्टचन्द्रगुप्तनृपयोशौर्यं रणेस्वहार्यमपहार्यं-
धैर्यविकलानथोन्मोलयत् ।’

उपर्युक्त छः ‘चन्द्रगुप्त’ नामक राजाओं में केवल गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के संदर्भ में ही ऐसे उद्धरण सुरक्षित हैं जिसके आधार पर उसे एक दानी शासक स्वीकार किया जा सकता है। संजन ताम्रपत्र में राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को कलियुग का एक प्रसिद्ध ‘दानी’ शासक स्वीकार किया है—

‘हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्ततो’ ।
लक्षकोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वय ॥

ऐसी स्थिति में सुभिक्षराज के बदरीनाथ ताम्रपत्र में वर्णित दानी चन्द्रगुप्त को महान् गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) माना जा सकता है।

कार्तिकेयपुर के राजा पद्मटदेव की तुलना चन्द्रगुप्त द्वितीय से करना यह संकेत करता है कि कुमाऊँ-गढ़वाल की पर्वतीय भूमि से चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध रहा होगा। पर्वतों की विषम भौगोलिक स्थिति के कारण अभी तक कुमाऊँ गढ़वाल के अधिकांश ऐतिहासिक स्थलों का सर्वेक्षण नहीं हो सका है और इस क्षेत्र के दो-चार लेखों को छोड़ कर सभी प्राचीन अभिलेख अभी तक अप्रकाशित हैं। इसी कारण गुप्त शासकों के साथ हिमालय के राजनैतिक सम्बन्ध का इतिहास अभी तक अज्ञात है। अभी तक केवल दो ऐसे संकेत उपलब्ध हैं जिनके अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुमाऊँ-गढ़वाल की विजय की थी, वे दो संकेत निम्नवत् हैं—

(१) समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में ‘हिमालय’ की विजय का इस प्रकार उल्लेख नहीं है जिस तरह अन्य प्राचीन भारतीय प्रशस्तियों में मिलता है। उसने ‘कर्तृपुर’ नामक राज्य को अपना प्रत्यन्त [सीमान्त] राज्य बताया है जिसे अलमोड़ा जिले के ‘कत्यूर’ का

प्राचीन नाम स्वीकार किया जाता है। प्रयाग प्रशस्ति के आधार पर यह माना जा सकता है कि समुद्रगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति से शक्ति होकर 'कर्तृपुर' [कुमाऊँ-गढ़वाल] के राजा ने इसके पास उपहार भेजकर अधीनता स्वीकार कर ली होगी।

कुमारगुप्त प्रथम की मन्दसौर प्रशस्ति में कुमाऊँ-गढ़वाल के उत्तर में स्थिति 'कैलास' पर्वत तक गुप्त-साम्राज्य की सीमा बतलायी गई है—

'चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां
सुमेरुकैलासवृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥^५

ये तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि समुद्रगुप्त के समय का कर्तृपुर राज्य कुमारगुप्त के समय में नहीं था, अतः उसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही कर्तृपुर राज्य का अन्तर्कर कुमाऊँ-गढ़वाल को अपने अधिकार में किया होगा।

(२)—नवीं शताब्दी के लेखक राजशेखर ने अपनी पुस्तक 'काव्य मीमांसा' में यह उल्लेख किया है कि कार्तिकेयपुर के खस' जाति के राजा ने समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त को घेरकर उसे रानी ध्रुवस्वामिनी को समर्पित करने के लिये बाध्य कर दिया था लेकिन चन्द्रगुप्त ने उस खस राजा को मार डाला और आज भी किन्नरों से युक्त हिमालय की गुहाओं वाली भूमि में स्थित कार्तिकेयपुर नामक नगर की स्त्रियाँ चन्द्रगुप्त की कीर्ति-गायन करती हैं ॥^६

'दत्त्वा रुद्रगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात्खण्डितसहस्रो निवृत्तो श्रीशर्मगुप्तोः नृपः ।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहा कोणक्वणक्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः ॥^७

राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में रामगुप्त के लिये शर्मगुप्त तथा शक के लिये खस का प्रयोग किया है। बहुत सम्भव है कि रामगुप्त का दूसरा नाम शर्मगुप्त है^८। डॉ० भण्डारकर महोदय का मत है कि शक शब्द का परिवर्तित रूप खस है—मालवीय कामे-मोरेण, वाल्यूम, पृ० १६४।

परवर्ती साहित्य में चन्द्रगुप्त द्वितीय की दो विजयों—कार्तिकेयपुर के खस और सौराष्ट्र-उज्जैन के शक के मध्य ऐसी उलझन तैयार हो गई जिससे खस और शक दोनों के इतिहास के साथ न्याय नहीं हो सका है। हर्षचरित, देवीचन्द्रगुप्तम् आदि में खस के स्थान पर शक का उल्लेख होने से यह समस्या अधिक जटिल हो गई है। वास्तव में यह प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के पूर्व ध्रुवस्वामिनी की रक्षा के लिये उसने कार्तिकेयपुर के खसराजा को मारा था। यह घटना ३७५ ई० के कुछ समय पूर्व की रही होगी क्योंकि खसराजा को परास्त करने के बाद चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त को मार कर उसके राज्य और पत्नी-दोनों पर अधिकार कर लिया। कार्तिकेयपुर की विजय की स्मृति में ही उसने ध्रुवस्वामिनी से उत्पन्न पुत्र का नाम कुमार (कार्तिकेय) गुप्त रखा होगा। 'मजमुलुत्तवारीख' नामक ग्रन्थ से भी यह ज्ञात होता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' की घटना किसी पर्वतीय भूमि में हुई थी और शत्रु ने रामगुप्त की सेना को पहाड़ी के शीर्ष पर घेर लिया था।

उज्जैन के शकों की चन्द्रगुप्त द्वारा पराजय ध्रुवस्वामिनी की घटना से जोड़ना ठीक नहीं है। उज्जैन के शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की अन्तिम ज्ञात तिथि ३८८ ई० है, अतः इस शासक को चन्द्रगुप्त ने ३७५ ई० में अपने राज्याभिषेक से पहले ध्रुवस्वामिनी के वेष में जाकर नहीं मारा था। शक-विजय के उपरान्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों की मुद्रा के अनुकरण पर चाँदी के सिक्के चलाये जिनमें एक ओर गरुड़ की मूर्ति है और दूसरी ओर 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' लिखा मिला है। ५७ ई० पू० से कृत संवत् का प्रवर्त्तन करने वाले प्रसिद्ध शकारि विक्रमादित्य की राजधानी उज्जैन को शकों से मुक्त करने के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की होगी। मालवा के उदयगिरि पर्वत की गुफा में एक लेख है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध-सचिव वीरसेन ने कहा है कि जब सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय समस्त पृथ्वी को जीतने के लिए आया, उस समय वीरसेन भी वहाँ आया था। अतः यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ३८८ ई०

के पश्चात् दिग्विजय के लिए निकला होगा और उसी अवसर पर उज्जैन के शकों को परास्तकर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की होगी।

कार्तिकेयपुर के खसों का इतिहास अभी क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है। तालेश्वर (जिला-अल्मोड़ा) बालेश्वर (जिला-पिथौरागढ़), वैजनाथ (अल्मोड़ा) और पाण्डुकेश्वर। बदरीनाथ (जिला चमोली) से प्राप्त ताम्रपत्रों और शिलालेखों से विदित होता है कि 'कार्तिकेयपुर' नामक नगर प्राचीनकाल में कुमाऊँ-गढ़वाल की राजधानी था और आधुनिक अल्मोड़ा जिले की कत्यूर घाटी में वैजनाथ नामक स्थान पर स्थित था। (प्रो० ए० सी० ब०, मार्च १८७७, पृ० ७२)। अल्मोड़ा से शिवदत्त, शिवपालित, हरदत्त आदि शासकों के सिक्के मिले हैं जिन्हें मुद्राशास्त्रवेत्ताओं ने द्वितीय सदी ई० पू० से द्वितीय सदी ई० के मध्य स्वीकार किया है। प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में खष, खस और खश नामक जाति का अनेक बार उल्लेख मिलता है जो कुमाऊँ-गढ़वाल में दीर्घकाल तक शासन करती रही। इस जाति के लिए 'खसिया' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

गुप्तकालीन ज्योतिषज्ञ वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में अनेक बार खसों का उल्लेख किया है। भारतवर्ष के विविध देशों के वर्णन में वह खस, मगध, समतट, औड्र, प्राग्ज्योतिष, लौहित्य आदि का नाम लेता है—

खसमगधशिविरगिरिमिथिलासमतटीडाश्ववदनदन्तुरकाः
॥६॥^८

भारत की उत्तरदिशा को वह कैलास, हिमालय आदि पर्वतों से युक्त बतलाते हुए वहाँ के निवासियों को किरात, तंगण, हूण, दरद, खध आदि मानता है—

मल्लापलोलजटमुरकुनठ खसघोषकुचिकाख्याः ॥३०॥^९

उसने खसों के देश का तंगण, कुलूत, कश्मीर आदि के साथ वर्णन किया है—

मैत्रे कुलूततंगणखसकाश्मीराः समन्त्रिचक्रचराः ॥१२॥^{१०}

वराहमिहिर ने एक स्थान पर बलशाली पर्वतीयों की विजय की सम्भावना व्यक्त की है—

चन्द्रमायात्युदक्पार्वतीय बलशालिनां जयः ॥१२॥^{११}

गुजरात में शिरीषपदक नामक स्थान से उपलब्ध

गुर्जरराजा दहप्रशान्तराग के ६८५ विक्रमी के ताम्रपत्र में हिमालय की शक्तिशाली सेना और खसों का उल्लेख मिलता है। गुर्जर-नरेश हिमालय की शक्तिशाली सेना से अपनी एक उपमा देना चाहते थे किन्तु हिमालय के खस परिवार से नहीं—

‘यश्चोपमीयते सत्कटकसमुत्तविद्याधरावासतया हिमाचले, न खशपरिवारतया’^{१२}

प्राचीन साहित्य और अभिलेखों में खश, खस और खष इन तीनों शब्दों का समान रूप से प्रयोग मिलता है। गढ़वाल से प्राप्त कार्तिकेयपुर के राजा ललितशूर के बदरीनाथ ताम्रपत्र में 'खष' शब्द का प्रयोग किया गया है (पर्वतीय इतिहास परिपद की शोध-पत्रिका, अंक-१, १९७२, पृ० २६-५२)। यह खसों की भूमि से प्राप्त सबसे प्राचीन लिखित प्रमाण होने से इस लेख में 'खष' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। खसों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए—‘खजुराहो लेख के खष’ विश्वभारती, खण्ड-१४, अंक-३, पृ० २२६-२३३। वायुपुराण के अनुसार खस पर्वतीयक्षेत्र में गंगानदी के तट पर रहते थे—

अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणाश्च ये।

निर्गहुरा हंसमार्गाः क्षुपणास्तङ्गणाः खसाः ॥^{१३}

वायुपुराण ३३/६६

अलबरूनी ने भी वायुपुराण के आधार पर यह स्वीकार किया है कि गंगा नदी के तट पर खस रहते थे। देवीभागवत (४/८) में भी यह स्वीकार किया गया है कि खस गंगा नदी के तट पर रहते थे—

‘गंगातीरे हि सर्वत्र वसन्ति नगराणि च।

व्रजाश्चैवाकरा ग्रामाः सर्वे खेदास्तथापरे ॥३०॥

निषादानां निवासाश्च कैवर्तानां तथापरे।

हूणवंशखसानां च म्लेच्छानां दैत्यसत्तम ॥३१॥

पिबन्ति सर्वदा गंगां जलं ब्रह्मपमं सदा।

स्नानं कुर्वन्ति दैत्येन्द्र त्रिकाल स्वेच्छया जनाः ॥३२॥

सहणपाल के बोधगया लेख में गढ़वाल के एक राजा 'अशोक मल्ल' को 'सपादलक्षशिखरिखसदेशराजाधिराज' कहा गया है^{१४}।

उक्त विवरणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि गंगा नदी के उद्गम स्थल-आधुनिक गढ़वाल

और कुमाऊँ की पर्वतीय भूमि में खष जाति रहती थी और इसी कारण यह भूमि 'खसदेश' के नाम से प्रसिद्ध थी। 'खष' प्राचीन-काल की एक राजनैतिक सत्ता थी। हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि हैहय और तालजंघ नामक क्षत्रियों के नेतृत्व में पारद, यवन, शक, काम्बोज, पहलव, खष आदि गणों ने अयोध्या के सूर्यवंशी राजा बाहु पर आक्रमण कर उसे परास्त किया था और कुछ समय के लिए कोशल राज्य को अपने अधिकार में रखा था। बाद में बाहु के पुत्र सगर ने अपने अधिकार में रखा था। बाद में बाहु के पुत्र सगर ने इन गणों को परास्त कर अपना राज्य वापस लौटाया। केदारखण्ड में भी सगर के द्वारा खसों की पराजय का वर्णन मिलता है। इसी तरह हरिवंशपुराण में यवन नरेश कालयवन की सेना में सम्मिलित होकर मथुरा में खसों के आक्रमण का उल्लेख मिलता है। महाभारत ख्यात कुरुक्षेत्र के युद्ध में खसों ने दुर्योधन की ओर से भाग लिया।¹⁵ कल्किपुराण (३/६/३२-४१) के अनुसार खस, काम्बोज, शक, वारंर आदि ने एक बार सारी पृथ्वी पर अधिकार कर सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी। ईसा से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध के समकालीन गन्धार-नरेश पुष्करसारि की राजधानी तक्षशिला पर भी खसों ने आक्रमण किया था (सार्थवाह, ३/४६) मुद्राराक्षस नामक नाटक से ज्ञात होता है कि नन्दराज्य के उन्मूलन और पाटलिपुत्र की विजय में चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता करने वाले हिमालय के राजा पर्वतक के पुत्र मलयकेतु की सेना में खस थे। बौद्ध-ग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार मौर्यसम्राट विन्दुसार के राज्यकाल में उसके पुत्र अशोक ने तक्षशिला के जनविप्लव को दबाने के उपरान्त खस-राज्य पर आक्रमण किया था¹⁶ इ.स. १६३०, पृ. ३३४।

राजपूतकालीन अभिलेखों एवं ग्रन्थों [७००-१२०० ई०] में खसों की राजनैतिक सत्ता का बार-बार उल्लेख मिलता है। राजतरंगिणी [१/३१२/३१७] के अनुसार खसों ने अनेक बार कश्मीर पर आक्रमण कर वहाँ अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी। लोहर के राजवंश को राजतरंगिणी में खस कहा गया है। बंगाल के राजा देवपाल [८१०-८५० ई०] के नालन्दा

ताम्रपत्र में मालव, हूण, खस आदि का उल्लेख मिलता है। उसी तरह नारायणपाल [८५३-९१६ ई०] के भागलपुर दानपत्र में गौड़, मालव, खष, हूण, लाट आदि को भूमि दान की सूचना दी गई है। खजुराहो लेख के अनुसार चन्देल राजा यशोवर्मा [९२५-५० ई०] ने गौड़, मालव, कश्मीर, मिथिला, गुर्जर, खस आदि को परास्त किया था—

‘गौडक्रीडालतासिस्तुलितखसबलः कोशलः

कोशलानाम्’¹⁷।

कल्याण के परवर्ती चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रथम (१०४३-१०६८ ई०) के अभिलेखों में बंग, मगध, नेपाल, पंचाल, कुरु, खस आदि को परास्त करने का दावा किया गया है¹⁸। उसी प्रकार कल्याण के कलचुरी राजा सोमेश्वर (११६८-११७७ ई०) को भी खष, कलिंग, तुरुष्क, चेर, सौराष्ट्र आदि को परास्त करने का श्रेय दिया गया है।

महाभारत और पुराणों से लेकर राजपूतकालीन अभिलेखों तक खसों की राजनैतिक सत्ता का निरन्तर उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि वह एक वीर और युद्धप्रिय जाति थी। कुमाऊँ का कार्तिकेयपुर दीर्घकाल तक खसों की राजधानी रहा। कार्तिकेयपुर के खसों की कहानियाँ मध्यकालीन मुसलिम इतिहास लेखकों को भी ज्ञात थी। इतिहासकार फरिश्ता ने कुमाऊँ के एक प्राचीन नरेश 'फुर' के बारे में लिखा है कि 'फुर' नामक व्यक्ति कुमाऊँ के राजा का सम्बन्धी था और उसी के राज्य में रहता था। बाद में उसने कुमाऊँ के राजा के विरुद्ध विद्रोह किया जिसमें उसे सफलता और समस्त कुमाऊँ राज्य उसके अधिकार में आ गया। तत्पश्चात् उसने विशाल सेना तैयार की और चतुर्दिश विजयें शुरू की। उसने पूर्वी भारत में बंगाल तक और दक्षिण में समुद्र तक आक्रमण किए (इलियट, ६/५५६-५७)। कार्तिकेयपुर के एक खस राजा शक्रदत्त का उल्लेख 'राजावली' नामक ग्रन्थ में भी है जिसने ५७ ई० पू० में उज्जैन नरेश विक्रमादित्य के साथ युद्ध किया था।

अन्त में यह मानना उचित होगा कि ३७५ ई० में कार्तिकेयपुर के खसों को परास्त कर गुप्त सम्राट

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुमाऊँ-गढ़वाल को अपने साम्राज्य में मिलाया होगा और वही मुभिक्षराज के वदरीनाथ ताम्रपत्र का चन्द्रगुप्त रहा होगा ।

सन्दर्भ :—

- १- उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग-१, पृ० ३८५ ।
- २- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-१ पृ० १०-१५ ।
- ३- प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ० ४२८ ।
- ४- वही, पृ० ४३० ।
- ५- वही, पृ० ३२३ ।
- ६- राजशेखर, काव्य मीमांसा, पृ० १४८-१४९ ।
- ७- जे०बी०ओ० आर०यस०, भाग १४, पृ० २४२ ।

८- बृहदारण्यक, १४ ।

९- वही, १४ ।

१०- वही, १० ।

११- वही, ११ ।

१२- उत्तराखण्ड का इतिहास, पृ० ४०८ ।

१३- वायुपुराण, ३३/६६ ।

१४- एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड-१२/२९-३० ।

१५- महाभारत, ६/६७/३९ ।

१६- इंडि०हि० क्वाटर्ली, १९३०, पृ०-३३४ ।

१७- ए० इ०, भाग १, पृ० १२६-१२८ ।

१८- द स्ट्रगल फार एम्पायर, पृ० १७२



युद्ध एवं शृंगार का सम्मिश्रण

—डॉ० लल्लनजी सिंह

मनोवैज्ञानिक मान्यता के अनुसार मनुष्य में अन्य वृत्तियों के साथ-साथ काम तथा युयुत्सा की प्रवृत्तियाँ भी वर्तमान रहती हैं। विकास के विभिन्न चरणों में विभिन्न रूपों में इनका प्रकाशन और मार्गान्तरिकरण होता रहता है। जहाँ इन दोनों प्रवृत्तियों की मानव-मन में वर्तमानता सत्य है, वहीं यह का अतिरेक तो किसी में युयुत्सा तत्सम्बद्ध वीरत्व का अतिरेक देखा जाता है, किन्तु प्राचीन युग शृङ्गारिकता तथा वीरता की प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण का युग का था। युद्ध उस युग की इसी प्रकार एक ज्वलन्त वास्तविकता थी, जिस प्रकार विषयों का उपयोग। एक ओर-आँखों की खुमाही में उद्दाम यौजवन अंगड़ाइयाँ होती थी, तो दूसरी ओर युद्ध का भैरवगान प्रारम्भ होता था। उद्दाम मौन भावना से अनुप्रेरित होने के कारण प्रायशः युद्धों के मूल में नारी ही रही है। होमर के ग्रन्थ 'इलियड' की नायिका हेलेन तथा रामायण की सीता इसी प्रकार की कारण बनी है।

रामायण कालीन युद्धों में युद्ध और शृङ्गार दोनों का सम्मिश्रण पाया जाता है। सैनिकों के रग-रग में सौंदर्य-चेतना व्याप्त थी। सुन्दरता के पारखी तो वे थे ही, स्वयं अपने सौंदर्य की अभिवृद्धि करने में भी वे सचेष्ट रहते थे। सांसारिक विषयों में आर्थ और अनार्थ योद्धा कितना रस लेते थे, अपने क्षणभंगुर जीवन से अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने में, उसे सामाजिक और सुविधापूर्ण बनाने में कितना उत्साह रखते थे—इसकी प्रचुर सामग्री आदि कवि वाल्मीकि ने अपनी काव्य में प्रस्तुत की है। वाल्मीकि ने एक ओर सुख-पूर्ण, सात्विक और संयत मनोविनोद तथा दूसरी ओर वैषम्यक ऐंद्रिक और लोलुप कामादिक-क्रीड़ाओं या वासनाओं के बीच एक स्पष्ट पार्थक्य एवं वैषम्य

दिखलाया है। दोनों प्रकार के विनोद अयोध्या, किष्किंधा और लंका की सैनिक सम्यताओं में स्पष्ट निर्दिष्ट है। सुरा-पान और भोग-विलास तो निरे 'ग्राम-सुख' हैं। उस समृद्ध युग में नारी और नारी के प्रति प्रेम पुरुषों के जीवन के अंगीभूत थे। युद्ध की तरह प्रेम भी रामायण के वीरों का उद्दाम व्यापार था, दोनों में क्रुद पड़ने को वे तत्पर रहते थे। भरद्वाज आश्रम में रक्त चन्दन से भूषित और सुन्दरी अप्सराओं से संयुक्त होकर भरत के सैनिकों को अयोध्या लौटते को कोई चाह नहीं रह गई (२/६१/५८.६) थी। अनेक सुन्दर एवं तरुण रमणियों के प्रणय का आस्वादन करना तत्कालीन युद्धाओं की दृष्टि में सुखी जीवन का एक मापदण्ड था। यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में वीर-गति पाने वाले सैनिकों का स्वर्ग में अप्सरायें प्रेमपूर्वक स्वागत करती हैं। मृत बालि को सम्बोधित करते हुए उसकी तारा पत्नी ने कहा है कि काम-कला प्रवीण अप्सराओं के चित को लुभाया करेंगे।^३

'रामायण' हमारी जातीय संस्कृति का दर्पण-ग्रन्थ है। इसमें भी तत्कालीन प्रवृत्तियों का समन्वय सम्पन्न हुआ है जिसमें निविड शृङ्गारिक चेतना के साथ-साथ युद्ध की दुन्दुभियाँ मुखरित हो रही हैं। सर्वप्रथम बालि सुग्रीव को हो लें। बालि ने कामाभिभूत होकर अपने अनुज सुग्रीव की प्रिया 'रूमा' का अपहरण किया था। इसके साथ ही तारा सहित अपनी अन्य रानियों में भी अनुरक्त था। सुग्रीव के द्वारा युद्ध के लिये दुबारा आह्वान किये जाने के समय वह अपनी रानियों के के बीच मनोविनोद में तल्लीन था, लेकिन, सुग्रीव के सिंहनाद को सुनते ही काम का खुमार रोष की लपटों में प्रज्ज्वलित हो उठा और क्रोध में वह अपने कराल-दाँत पीसने लगा, दोनों आँखें दहकते हुए अंगारे की तरह लाल हो गईं^४। कान्ता तारा मनुहार करके थक गई,

उसका आश्लेष बालि को नितरां प्रिय रहा होगा, किन्तु तारा का वह मधुर परिरन्मण भी युद्ध की चुनौती के सम्मुख काम न आया बालि युद्ध के लिये तैयार हो गया।

राम द्वारा राज्याभिषेक करवाये जाने के बाद सुग्रीव सुरा और सुन्दरी के मंदिर आकर्षण में आकंठ डूब चुके थे। जिस समय राम ने लक्ष्मण को उसके पास भेजा उस समय सुग्रीव प्रणय के अत्यन्त मंदिर, बेसुध कर देने वाले आसव का पान करने में लीन थे। उनके नेत्र नशे में लाल हो रहे थे। प्रणय की मदिरा प्राणों को इस तरह बेसुध बना गई थी कि लक्ष्मण के आने पर भी वे पूर्ववत् अपनी रानी रुमा के आश्लेष में बंधे रहे। साधारणतः इस प्रकार की दुर्द्धर्ष वासना पुरुष की शक्ति क्षीण कर उसे स्त्रैण बना जाती है। कालिदास के रघुवंश का नायक अग्निवर्ण इसी प्रकार का पुरुष है जिसे वासना ने क्षय का रोमी बना दिया है, लेकिन रामायण के पात्रों में शृंगार एवं वीरत्व का उचित सम्मिश्रण है। इस लिये लक्ष्मण द्वारा मत्सिंत सुग्रीव तुरन्त सुकुमार शृंगारिक आकांक्षाओं, कल्पनाओं को तिलांजलि देकर अपनी शक्ति का गर्जन करते हैं।

युद्ध एवं शृंगार के सम्मिश्रण का सुन्दर नमूना है रावण। एक ओर वह नारी के मांसल आकर्षण में खोकर अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार है। सीता का पूर्ण विकसित यौवन को देखकर उसकी आंखों में सुरूर छा जाता है, शिराएं झुनझुना उठती हैं और वही लकेश जिसकी आज्ञाएं देवता-दानव सभी मौन भावेन स्वीकार करते हैं, यह कह उठता है कि- 'सीते ! तू मुझको निस्संकोच भाव से आज्ञा दिया करो।' मैं तेरे ऊपर आसक्त हूँ। यह आसक्ति ही सबसे बड़ा बंधन है, क्योंकि यह जिसके प्रति उभर आती है, निश्चय ही उसके ऊपर स्नेह और दया उत्पन्न कर देती है ^५।

रावण काम से इतना अभिभूत है कि सिर पर युद्ध की विभीषिका घहराने के बावजूद वह सीता का रूप-वर्णन करने में नहीं थकता। 'तनुमध्या' सीता की देहयष्टि के दुर्गम पार्वत्य तथा घाटीय प्रदेशों की यात्रा कर उसकी आंखें सतत प्रदेशों में जाकर अटक

जा रही हैं और निरन्तर की कामपीड़ा से वह वैसी ही श्रान्त हो गया है जैसे बहुत दूर चलता हुआ घोड़ा थक जाता है। जब सीता-अन्वेषण के लिये गये हनुमान ने रावण के भवन में प्रवेश किया तो देखा कि रावण के आस-पास सैकड़ों रूपयौवनसम्पन्ना मदोन्मत्ता नारियाँ अस्त-व्यस्त अवस्था में सो रही थीं। स्त्रा-विरंगे वस्त्रों और पुष्पहारों से सज्जित अनेक सुंदरियाँ सुरा-पान, काम-क्रीड़ा और नृत्यादि-जन्य परिश्रम के कारण उस ढलती रात में नींद से अचेत हो रही थीं। तारों से सुशोभित शरत्कालीन आकाश के समान प्रतीत होती थी रमणीयरत्नों से जगमगाती रावण की वह नारीशाला। अस्त-व्यस्तता ने उनकी चारुता को द्विगुणित कर दिया था। किसी के केश बिखर गये थे, किसी के फूलों के गजरे टेढ़े-मेढ़े हो गये थे, किसी का वस्त्र खिसक गया था, तो किसी की करधनी। किसी का चन्दन-किरण के समान हार सिमट कर कुचों के बीच ऐसे पड़ा था मानो कोई हंस सोया हो। कोई किसी की लांह पर, कोई किसी की गोद में या कमर के सहारे, तो कोई किसी से लिपटी-लिपटाई, अंग-स्पर्श से पुलकित गात, मद्य और मदन के वश में पड़ी सो रही थी। भुजाओं रूपी धागों से गुथी वह स्त्रियों की माला ऐसी सोह रही थी, मानों वृक्ष की कुसुमित शाखाएं वायु-वेश से लिपट गई हों। ऐसे रूप, ऐसे लवण्य को महल के स्वर्ण-दीप भी एकटक निहार रहे थे ^६।

रूप और यौवन का ऐसा उन्मत्त प्रणयी युद्ध क्षेत्र में भी इसी प्रकार उन्मत्त हो जाता है। उसके बाणों की चोट से घायल हो पहली ही बार में बहुत से प्रसिद्ध वीर-बानर, यहाँ तक कि बाद में लक्ष्मण भी घरती पर लोट गये। स्वयं राम भी उससे बहुत सतर्क रहने की चेतावनी अपनी सेना को देते हैं, क्योंकि-

रावणोहि महावीरो रणोद्भूतपराक्रमः ।
त्रैलोक्येनापि संक्रुद्धो दुष्प्रसह्यो न संशयः ^७ ।

अर्थात् रावण महा बलवान् है और युद्ध में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित करने वाला है। यदि वह कुछ हो जाय तो समस्त तीनों लोक वासी भी इसके पराक्रम

को नहीं सम्हाल सकते । यह निस्सन्देह बात है । रावण के युद्ध करते समय पर्वतों और बनों समेत सम्पूर्ण पृथ्वी कांपने लगी । सूर्य का प्रकाश धुंधला पड़ गया, पवन का चलना बन्द हो गया । शृंगार के समय की 'उत्तमस्त्रीविमृदितगन्धोत्तमनिषेवित' भुजाये युद्ध के समय मयंक हो उठीं और रावण उन्हीं हाथों में मयंक धनुष लेकर बाणों की घनघोर वर्षा से वानरों की सेना को ढंकने लगा ।

इन सबसे बहुत अलग कोटि की शृंगारिक भावना राम में वर्तमान है जिसमें भारतीय जीवन के एकनिष्ठ, मधुर दाम्पत्य प्रेम का सुन्दर निदर्शन है । प्रिया-विरहित राम सदैव सीता की स्मृति में विह्वल रहते हैं । कभी मन्द सुरभित पवन का स्पर्श उनमें प्रिया के शरीर की भूख जगा देता है तो कभी धीरे-धीरे सीता के गत यौवना होते जाने का दुःख साल जाता है । प्रिया के अरुणिम अधरों के मदिर आकर्षण की स्मृति उन्हें उन्मत्त बना देती है और वेसमुद्र में गोता मार कर अपनी कामाग्नि शान्त करना चाहते हैं । सीता के प्रति यही स्नेह भावना युद्ध क्षेत्र में उन्हें अनुप्रेरित करती है । उनकी यही इच्छा है कि रावण

की छाती को तीरों से चीर कर सीता को कब फिर पाऊँगा । युद्ध क्षेत्र में सीता की स्मृति आते ही वे दुगुने उत्साह एवं क्रोध से अपने सैनिकों को लड़ने की आज्ञा देते हैं ^१ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण के प्रमुख पात्रों में शृंगार एवं वीरत्व का सामिश्रण है । उनमें मूर्तिमान आकर्षण के प्रति शृंगारिक भावना भी वर्तमान है और दूसरी ओर युद्ध के प्रति भी निष्ठा के साथ समर्पित हैं ।

संदर्भ —

- 1- तुलना कीजिये :- स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणभिः संर-
स्यसे वीतमयः कृतार्थः । १५।२८।१४
- 2- देखिये :- किष्किधाकान्ड । २०। १३
- 3- वही, । १५।४
- 4- वही, । ३३।६६
- 5- सुन्दर काण्ड । २२।४
- 6- सुन्दर कान्ड, ६/१०
- 7- वही, ५६/४६
- 8- कदा नु चारु विन्बोष्ठं तस्याः पदमामिवाननम् ।
ईषदुन्नाम्य पास्यामि रसायनमिवोतुरः । यु०का० ५।३१
- 9- यु०का० ४२।६



गुप्तों का वर्ण : पुनर्विचार

—विमलचन्द्र शुक्ल

भारतीय इतिहास में गुप्त राजवंश अत्यन्त गौरवशाली एवं महत्वपूर्ण है। भारत के अतीत की स्वर्णिम झाँकी इस राजवंश की सत्तावधि में प्रतिबिम्बित होती है। इसके अन्तर्गत अधिकांश धर्म-शास्त्रों ने अपना कलेवर ग्रहण किया। पुराणभारती धरा पर गूजने लगी। ब्राह्मण धर्म के देवसमूह अपने विग्रह के साथ भारत-भूमि पर आ विराजे। चतुस्समुद्रांत विलोलमेखला की उक्ति चरितार्थ हुई, उत्तर पश्चिम में शाहिशाहानुशाहियों के काबुल से लेकर दक्कन पर्वन्त भारत एक सूत्र में आवद्ध रहा। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त-महेन्द्रादित्य, स्कन्दगुप्त एक के बाद एक असाधारण व्यक्तित्वों के शृंखला की छत्रच्छाया में भारत की सहिष्णु, उदार एवं अभिराम संस्कृति पल्लवित हुई। फलस्वरूप अजर साहित्य और अमर कला का प्रादुर्भाव हुआ।

गुप्तों की असामान्यता उनके कृतित्व और व्यक्तित्व में ही नहीं, वर्ण में भी है। इन नरेशों का वाचाल इतिहास वर्ण-वर्णन के संदर्भ में मूक बन गया है। गुप्तों का वर्ण निर्णय प्रायः इतिहास की अनवृक्ष पहेली रही है।

गुप्तों के उदय के पूर्व भारत में अनेक गुप्त नामांत शासक विद्यमान थे।¹ भरहुत के अभिलेख में विश्वदेव नामक शासक के पुत्र को गोप्ती पुत्र कहा गया है। अभिलेख के अनुसार विश्वदेव शुंग कालीन थे।² सातवाहनकालीन अभिलेख में श्री अमात्य शिवगुप्त का नाम प्राप्य है।³ इससे स्पष्ट है कि सम्राट गुप्तवंश के पूर्व भी भारत में अनेकगुप्त नामांत नरेश थे जो गुप्तवंशीय थे। वह गुप्तकुल मूल में एक ही था या पृथक्-पृथक्,

निश्चित साक्ष्य के अभाव में स्पष्ट नहीं। संभाव्य यही है कि ये कुल समस्त भारत में फैले थे और इनकी परस्पर एकता करने के लिए कोई साक्ष्य नहीं।⁴

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने कौमुदी-महोत्सव नाटक के आधार पर गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने की चेष्टा की है। यह नाटक मगध-नरेश कल्याणवर्मन के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अभिनीत किये जाने के लिये किसी लेखिका द्वारा रचा गया था। इस नाटक के अनुसार मगध नरेश सुन्दर वर्मन् ने चण्डसेन नामक किसी व्यक्ति को अपना दत्तक पुत्र बनाया था, बाद में चण्डसेन ने लिच्छवियों के साथ संबंध स्थापित कर सुन्दर वर्मन् को मार डाला। तद्रूपरान्त सुन्दर वर्मन् के पुत्र कल्याण वर्मन् ने प्रजा की सहायता से चन्द्रसेन को परास्त कर मगध का राज्य-सिंहासन प्राप्त कर लिया। डॉ० जायसवाल चण्डसेन की समता गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त से करते हैं। इनके अनुसार चण्ड शब्द संस्कृत के चन्द्र का प्राकृतिक रूपान्तर है। चण्डसेन का संबंध ब्राह्म्य लिच्छवियों से था तथा नाटक में उसे कारस्कर कहा गया है। ऐसी स्थिति में कारस्करों को मुद्रों के एक उप-विभाग धारी जाट समीकृत करते हुये डॉ० जायसवाल चन्द्रगुप्त को शूद्र सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।⁵ कौमुदी महोत्सव में भी चण्डसेन को राज्यश्री के अयोग्य कहा गया है।⁶ डॉ० जायसवाल के तर्क समुचित नहीं प्रतीत होते। यदि मान लिया जाय कि चन्द्र का प्राकृत चण्ड हो सकता है जैसा सातवाहन-नरेश चण्डसाति का नाम सिक्कों पर चन्द्रसाति के रूप में भी मिलता है तो भी हम चण्डसेन की समता चन्द्रगुप्त से स्पष्टतया नहीं कर

सकते। नाटक के साक्ष्य के आधार पर स्वयं चण्डसेन को भी शूद्र नहीं कहा जा सकता। मगध-नरेश सुन्दर वर्मन् ने चण्डसेन को अपना दत्तकपुत्र बनाया था धर्मशास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार सर्वर्णिय को ही दत्तकपुत्र बनाना चाहिए, क्योंकि पूर्वपुरुषों को पिण्डदान वही करता है।⁸ वशिष्ठ का तो यहाँ तक कहना है कि यदि दत्तकपुत्र के कुल के विषय में संन्देह हो तो उसे शूद्रवत् समझना चाहिए⁹। इस नाटक की लेखिका ने चन्द्रसेन को राज्य के अयोग्य बताया तो उसका एकमात्र कारण यही है कि वह क्रूरकर्मा था। उसने उसी व्यक्ति की हत्या कर दी जिसने उसे पुत्रवत् समझकर दत्तक लिया था। इस संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि कौमुदी महोत्सव नाटक कल्याण वर्मन् के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में अमिनीत करने के लिए लिखा गया था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि उसके शत्रु चण्डसेन की निन्दा की जाती और उसे हीन बतलाया जाता। इसी प्रसंग में लिच्छवियों को म्लेच्छ कहा गया है। लिच्छवि लोग भी चण्डसेन के साथ सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। नाटक में लिच्छवियों के लिए 'मगध कुलवैरिभिः' विशेषण इस तथ्य को और स्पष्ट कर देता है। मनु ने लिच्छवियों को ब्राह्मण कहा है¹⁰। ब्राह्मण लोग सावित्री परिभ्रष्ट तथा संस्कारहीन¹¹ होने से वे निम्नवर्णिय नहीं सिद्ध होते। संभव है कि बौद्ध धर्म में आस्थावान होने के कारण सनातनी हिन्दू परम्पराओं का उचित पालन न करते रहे हैं। पतञ्जलि अपने महाभाष्य में ब्राह्मणों को निम्न उत्पत्ति की ओर कुछ भी संकेत न करके उन्हें उत्सेधजीवी एवं अनियतवृत्ति विशेषण से सम्बोधित करते हैं¹²। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ब्राह्मणों को एक राजनीतिक संघ मानते हैं¹³। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मणों को ऐसी जाति का माना गया है जिनके पूर्वजों का उपनयन संस्कार न हुआ हो¹⁴। बेवर आखिफ़ट, जिमर, चन्दा तथा हाकिन्स भी ब्राह्मणों को ऐसा आर्य मानते हैं जो ब्राह्मण धर्म का पालन करने वाले न हों¹⁵। इससे स्पष्ट है कि मनु के द्वारा लिच्छवियों को ब्राह्मण घोषित करने का कारण धार्मिक था। उनकी निम्न उत्पत्ति नहीं। स्वयं मनु ने ब्राह्मणों की जो परिभाषा दी है उसमें कहीं भी ब्राह्मणों की निम्न उत्पत्ति की ओर संकेत नहीं है¹⁶। इस संदर्भ में यह

भी विचारणीय है कि जैन, बौद्ध परंपरायें एकमत हैं और लिच्छवियों के क्षत्रिय होने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने के लिए कुछ अन्य तर्कों का आधार ग्रहण करते हैं, यथा - उनके अनुसार गुप्तों ने जान बूझकर अपनी निम्न उत्पत्ति छिपाने की चेष्टा की है¹⁷। किन्तु इसी तर्क का अवलम्बन लेकर यह कहा जा सकता है कि अगर ब्राह्मण और म्लेक्ष लिच्छवि के साथ चन्द्रगुप्त का वैवाहिक संबंध था तो क्यों समस्त गुप्त वंशीय नरेश लिच्छवियों के संबंध का गायन करते, वे अपने इस निम्न वर्णिय के साथ वैवाहिक संबंध को छिपाने का प्रयत्न क्यों न करते। इससे स्वयं स्पष्ट है कि लिच्छवि निम्न वर्णिय नहीं थे। इस संदर्भ में चण्डसेन के लिए प्रयुक्त कारस्कर शब्द का प्रयोग भी विचारणीय हो जाता है। डॉ० जायसवाल कारस्करों को मुद्रों की एक उपविभाग जातिकों या जाटों में रखते हैं तथा प्रभावती गुप्ता (चन्द्रगुप्त दिवतीय की पुत्री) के पूनाताम्रपट्ट में प्रयुक्त धारणागोत्र को उसके पिता के गोत्र से समीकृत करते हैं। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुप्त लोग धारी जाट थे¹⁸। बोधायन धर्मसूत्र में कारस्करों को नीच बताया गया है¹⁹। महाभारत में मुद्रक जातिकों की निन्दा की गयी है तथा उन्हें गोमांस भोजी बताया गया है²⁰। इस प्रकार भी श्री जायसवाल गुप्तों की निम्न उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि चण्डसेन के लिए प्रयुक्त कारस्कर शब्द उसकी जाति का नहीं अपितु उसके कर्मों के द्योतक है। कारस्कर शब्द के दो अर्थ इस संदर्भ में विचारणीय हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में पाणिनि के सूत्र पारस्कर प्रभृति संज्ञायाम् के भाष्य में कारस्कर का अर्थ विषवृक्ष लिया गया है²¹। कारस्कर की व्युत्पत्ति इस रूप में है - कारं करोति इति कारस्करः यथा पारं करोति इति पारस्करः²²। मेदिनी कोश के अनुसार कार का एक अर्थ वध भी होता है²³। स्पष्ट है कि चण्डसेन के कृत्य को देखते हुए दोनों ही अर्थ ठीक प्रतीत होते हैं। वह मगध-नरेश सुन्दर वर्मन् के लिए विष तुल्य था और

उसने उसका वध भी किया था। ऐसी स्थिति में चण्डसेन को कारस्कर कहना विशेष महत्त्व नहीं रखता। अतः गुप्तों की निम्न उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण स्पष्ट और पुष्ट नहीं।

कुछ विद्वानों ने गुप्त नामांत होने के कारण इन नरेशों को वैश्य वर्णीय सिद्ध किया है। इन विद्वानों के अनुसार इस काल तक व्यवसाय चयन में जातिगत बन्धन शिथिल पड़ गये थे। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने विशेष परिस्थितियों में वृत्ति परिवर्तन की बात कही है ²⁴।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्राह्मण को अपने नाम के अंत में शर्मा; क्षत्रिय, वर्मा; तथा वैश्य, गुप्त; एवं शूद्र को दास शब्द रखना चाहिए। मनु ने भी इस तथ्य को प्रतिपादित किया है ²⁵। ऐसी स्थिति में गुप्त नामांत होने के कारण गुप्तवंशी नरेश वैश्य वर्णीय प्रतीत होते हैं।

किन्तु उपर्युक्त मत परीक्षण की कसौटी पर आहत हो जाते हैं। मनु ने नामांत शब्द धारण करने की व्यवस्था के मूल में जातिगत कर्म को ही आधार माना है ऐसा मनु के कथन तथा उस पर मेधातिथि की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। मनुस्मृति का ही आधार विष्णु-पुराणकार ने इस संदर्भ में ग्रहण किया है। पुनश्च जातिगत व्यवसाय और कर्म चयन में शैथिल्य आ जाने पर नाम धारण करने के नियमों में व्यतिक्रम स्वाभाविक था। चाणक्य जो परंपरा से ब्राह्मण माना जाता रहा है; विष्णुगुप्त नामधारी था; मागध गुप्तवंशीय नरेश (क्षत्रिय) आदित्य सेन अपने नाम के अंत में सेन शब्द धारण किये हैं जबकि ब्राह्मण वर्णीय (विष्णुवृद्ध गोत्र) वाकाटक नरेशों के नामान्त में सेन शब्द जुड़ा हुआ है। अतः गुप्त शब्द के आधार पर उनको वैश्य सिद्ध करने का प्रयत्न भी ग्रहणीय नहीं। बल्कि सत्य यह है कि अपने मूल पुरुष (गुप्त या श्री गुप्त) के नाम की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए गुप्त सम्राटों ने अपने नाम के अंत में गुप्त शब्द का हमेशा प्रयोग किया। भारतीय इतिहास में इस तरह का उदाहरण अनजाना नहीं। बंगाल के सेन राजा अपने पूर्वपुरुष बीरसेन की स्मृति स्वरूप अपने नाम के अंत में सेन शब्द का प्रयोग करते

थे। उड़ीसा का कर राजवंश तथा मागधगुप्त नरेशों का वंश (आदित्यसेन को छोड़कर) इस संदर्भ में बिचारणीय है। कभी-कभी वृत्ति परिवर्तन के कारण लोग नामांत शब्द को परिवर्तित कर देते थे। इसका सम्यक् उदाहरण कदंब वंश है जिसके संस्थापक मयूर शर्मा को छोड़कर अन्य सभी नरेशों ने अपने नाम के अंत में वर्मा शब्द का प्रयोग किया। अतः गुप्त नामांत होने से गुप्त सम्राटों की जातिगत समस्या को सुलझाने के लिए कोई आधार प्राप्त नहीं होता।

कुछ अन्य विद्वान् तथा वी० जी० गोखले ने गुप्तों को आर्येतर भूत्य माना है। उनके अनुसार गुप्तों द्वारा सनातनी हिन्दू धर्म का पुनरुन्नयन उनकी निम्न उत्पत्ति को छिपाने का प्रयास मात्र था। ब्राह्मण लिच्छवियों को आर्येतर स्वीकार करते हुए श्री गोखले इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लिच्छवियों से सम्बन्ध होने के कारण गुप्त लोग भी आर्येतर थे। मनु ने स्वयं ब्राह्मणों को अनुवर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत रखा है। वस्तुतः ब्राह्मण शब्द ब्रात से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है ब्रत (पुण्यकार्य) में दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय ²⁶। डॉ० हावर ब्राह्मणों को ब्राह्मणेतर आर्यधर्म का पालक मानते हैं ²⁷। इस सम्बन्ध में ही ब्राह्मणों को सावित्री परिभ्रष्ट तथा संस्कारहीन कहा गया है। अतः ब्राह्मणों को आर्येतर सिद्ध करने की चेष्टा भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होती है।

डॉ० बी० भट्टाचार्य ने कलिराजयुगवृत्तान्त, जो भविष्यपुराण का एक अंश है, के आधार पर गुप्तों को आन्ध्र भूत्य सिद्ध करने की चेष्टा की है किन्तु उनकी चेष्टा भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होती है। यद्यपि सातवाहनों के अधीनस्थ गुप्त नामांत व्यक्तियों का परिचय मिलता है ²⁸। किन्तु उन गुप्त नामांत व्यक्तियों तथा गुप्त सम्राटों को परस्पर एकात्म करने के लिए कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने विद्वतापूर्ण विचारों के आधार पर कलियुगराज वृत्तान्त को अत्याधुनिक होना सिद्ध कर दिया है और उसका रचनाकाल १८६३ ई० से १९०४ ई० के बीच माना है। ऐसी स्थिति में भट्टाचार्य जी की कल्पना जिस आधार पर टिकी थी वह आधार ही निर्मूल हो गया ²⁹।

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी तथा डॉ० उदय नारायण राय ने गुप्तों को ब्राह्मण सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनके विचारों के अनुसार प्रभावती गुप्ता द्वारा अपने को धारणसगोत्रा कहना इस बात का संकेतक है कि धारण गोत्र उसके पिता का गोत्र रहा होगा। क्योंकि वाकाटक नरेश विष्णुवृद्ध गोत्रीय ब्राह्मण थे। धारण गोत्र का समीकरण शुंगवंशीय अग्निमित्र की देवी धारिणी से करते हैं³⁰। संभवतः वह नागराजकुमारी थी क्योंकि उसकी अँगूठी नागलौच्छन से युक्त थी। नाग चिह्न चित्रित करने की परम्परा नागवंश में ही प्रचलित थी। उदाहरणतया बीरसेन के सिक्कों पर हमें नाग के चित्रण मिलते हैं³¹। धारण गोत्र को स्कन्द-पुराण के धर्माख्य खण्ड में ब्राह्मण गोत्र बताया गया है, इस आधार पर गुप्तों को ब्राह्मण सिद्ध किया जा सकता है। विद्वानों ने अपने मत के समर्थन हेतु गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्ध को भी आधार बनाया है। गुप्तों का विवाह वाकाटक और कदम्ब राजवंशों के साथ हुआ था। दोनों राजवंश ब्राह्मण थे। कदम्ब राजवंश की कन्या गुप्त कुलीन किसी राजकुमार से व्याही गयी थीं ऐसा तालगुण्ड प्रशस्ति से ज्ञान होता है। अगर गुप्त लोग ब्राह्मणोत्तर वर्ण के होते तो यह विवाह प्रतिलोम विवाह होता। स्मृतियों में प्रतिलोम विवाह की कटु मत्सर्ना की गयी है। ऐसी स्थिति में गुप्तों का ब्राह्मण सिद्ध होना प्रतीत होता है।

उपयुक्त तर्क परीक्षण निकष पर निष्कर्ष हीन हो जाते हैं। प्रभावती गुप्ता द्वारा धारण गोत्र का उल्लेख अपने पिता के गोत्र के लिए ही न होकर माता के गोत्र के लिए भी हो सकता है। प्रभावती गुप्ता की माता कुवेरनागा नागराजकुमारी थी, स्वयं प्रभावती गुप्ता अपने अभिलेख में अपनी माता को 'नागकुलसंभूता' व्यक्त करती हैं। अतः 'धारण' का संबन्ध नागकुल से जोड़ा जा सकता है। कुछ अन्य साक्ष्यों के आधार पर भी नागों का सम्बन्ध धारण शब्द से सिद्ध किया जा सकता है। महाभारत के अनुसार नागवंश का पूर्व पुरुष एक नाग था जिसका नाम धारणेन्द्र था, धारण सर्पों के एक प्रसिद्ध सरदार का नाम था। धारिणी नाम नाग राजकुमारी (अग्निमित्र की पत्नी)

का नाम था। अतः धारण शब्द का प्रयोग प्रभावती गुप्ता के पितृ पक्ष की अपेक्षा मातृपक्ष में प्रयुक्त हुआ ज्यादा संभाव्य प्रतीत होता है। कभी-कभी ऋषि परंपरा पर आधारित गोत्र के अन्तर्गत चारों वर्णों का समावेश हो जाता था यथा, जैनकों के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी आते थे³⁴। भार्गववंशी आंगिरस का भी उदाहरण इस संदर्भ में द्रष्टव्य है³⁵। ऐसी स्थिति में धारण गोत्र गुप्तों के ब्राह्मणत्व का परिचायक सिद्ध नहीं होता।

गुप्तों को ब्राह्मण सिद्ध करने में उनके वैवाहिक संबन्धों का आश्रय लिया जाता रहा है। कदम्बवंशीय राजकुमारी का विवाह गुप्त कुल में हुआ था। किन्तु यह विवाह सामाजिक दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना इसका राजनीतिक महत्त्व है। तालगुण्ड प्रशस्ति काकुत्थ-वर्मा के समय की है। जिसका काल ४२५ ई० से ४५० ई० माना जाता है। इसी प्रशस्ति में कदंबों और गुप्तों के वैवाहिकसम्बन्ध का अस्पष्ट उल्लेख है। ३८५ ई० के आसपास वाकाटकों की वसीम शाखा के शासक विन्ध्यसेन ने कुंतल विजय की थी, अतः संभाव्य है कि कदंबवंशीय कंगवर्मा को वाकाटकों के आक्रमण का सामना करना पड़ा हो। फलस्वरूप कदंब वंश की शक्ति क्षतिग्रस्त हुई हो³⁶। ऐसी स्थिति में कदंब वंश ने गुप्तवंश से वैवाहिक सम्बन्ध करना उचित समझा हो। द्वितीय संभावना यह भी हो सकती है कि इस वैवाहिक सम्बन्ध के मूल में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता समुद्रगुप्त की प्रत्यन्त-नृपतियों के साथ 'कन्योपायनदान' की नीति का अवलम्बन लिया हो, फिर कदंब वंश के संस्थापक मयूर शर्मा को छोड़कर अन्य सभी नरेशों के द्वारा अपने नाम के अंत में क्षत्रियत्व सूचक वर्मा शब्द का प्रयोग भी सार्थक प्रतीत होता है। संभवतः वृत्तिपरिवर्तन के कारण ऐसा सम्भवत हुआ। वस्तुतः विदेशी आक्रमणकारियों से बचने के लिये वर्णशास्त्रियों ने कुछ समय के लिये अपने नेत्र बन्द कर लिये। महाभाष्य के अनुसार भी विशेष परिस्थितियों में क्षत्रिय ब्राह्मण का स्थानापन्न हो सकता था³⁷। ब्राह्मण कन्या और

और क्षत्रिय वर का उदाहरण इतिहास में अनजाना नहीं। शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से ययाति का विवाह हुआ था। राजा बलि के पुत्रों के दो पक्ष मिलते हैं — एक पक्ष क्षत्रियों का है जिन्हें बालेय क्षत्रिय कहा गया है। द्वितीय पक्ष ब्राह्मणों का है जिन्हें बालेय ब्राह्मण कहा गया है^{३४}। दक्षिणपूर्व एशिया में भी यह परम्परा मिलती है। जयवर्मन् सप्तम की दोनों रानियाँ ब्राह्मण कुल की थीं। जयवर्मन् अष्टम ने नरपति देश से आयी हुई एक ब्राह्मणी कन्या प्रभा से विवाह किया^{३५}। अतः कदंब वंश का गुप्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध इस तथ्य का प्रतिपादक नहीं है कि गुप्तों का वंश ब्राह्मण था। दोनों के वैवाहिक संबन्ध के मूल में राजनीति की मुख्य भूमिका रही, चातुर्वर्ण्य नीति की नहीं।

गुप्तों को क्षत्रिय सिद्ध करने के प्रमाण प्रचुर हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम का वैवाहिक संबन्ध लिच्छवियों से था। लिच्छवि क्षत्रिय थे। लिच्छवियों के क्षत्रिय होने के प्रमाण बौद्ध और जैन साहित्य में प्रचुर मात्रा में भरे पड़े हैं। इस विषय में विचारणीय है कि अगर गुप्त लोग निम्नवर्णीय होते तो क्षत्रिय रक्त पर अभिमान करने वाले लिच्छवि लोग गुप्तों से वैवाहिक संबन्ध न स्थापित करते, विशेषतः ऐसी स्थिति में जब कि गुप्तों की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह नाग कुमारी बुवेरनागा से हुआ था। नाग लोग सनातनी परंपरा का उद्धार करने वाले क्षत्रिय थे। वे निम्नवर्णीय गुप्तों को अपनी कन्या न देते, विचारणीय है कि नागों का वैवाहिक संबन्ध वाकाटकों से था। वाकाटकों का संबन्ध गुप्त सम्राटों से था। वाकाटक विष्णुवृद्ध गोत्रीय ब्राह्मण होते हुए गुप्तों से वैवाहिक संबन्ध स्थापित किये। अगर गुप्त निम्नवर्णीय होते तो वाकाटक नरेश यह संबन्ध न स्वीकार करते, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि विवाहोपरांत मिलने वाले साहाय्य की अपेक्षा गुप्तों को अधिक थी वाकाटकों को कम। आर्यमंजुश्री मूलकल्प, जिसको डॉ. जायसवाल स्वयं ८०० ई. पू. से ८०० ई. तक का प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थ मानते हैं, में गुप्तों को क्षत्रिय कहा गया है^{३६}। कुछ अन्य अस्पष्ट परंपरायें भी गुप्तों को क्षत्रिय सिद्ध करती सी दिखाई प्रतीत होती हैं। डॉ.

सुधाकर चट्टोपाध्याय ने पंचोभ अभिलेख में उल्लिखित गुप्तवंश को सम्राट गुप्तवंश से एकात्म किया है। पंचोभ अभिलेख का गुप्तवंश अपने को पांडव अर्जुन से उत्पन्न मानता है^{३७}। डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार ने तन्त्रीकानन्दक नामक ग्रन्थ के आधार पर गुप्तों को क्षत्रिय मानने का संकेत दिया है क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी नरेश ऐश्वर्यपाल अपने को समुद्रगुप्त का वंशज मानता है^{३८}।

डॉ. गौरीशंकर ओझा ने सिरपुर प्रशस्ति के आधार पर गुप्तों को क्षत्रिय स्वीकार किया है। इस प्रशस्ति में चन्द्रनामक सम्राट को चन्द्रवंशी राजमंडल का सिरमौर कहा गया है^{३९}। अतः अनिश्चितता की इस विषम परिस्थिति में गुप्तों को क्षत्रिय मानना ज्यादा सहज और संभाव्य प्रतीत होता है।

संदर्भः---

- १-डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार द्वारा संपादित-क्लैसिकल एज[तृतीय संस्करण, भारतीय विद्याभवन] पृ०-१।
- २- डॉ० मजूमदार एवं अल्टेकर - वाकाटक - गुप्तयुग (१९६८, मोतीलाल बनारसीदास) पृ०-१२४।
- ३- डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार - सेलेक्टेड इन्सक्रिप्शन्स (१९४२ कलकत्ता) पृ० १६२ 'अमचेन शिवगुप्तेन हतो,' जिसका संस्कृत अनुवाद डॉ० सरकार के अनुसार 'अमात्येन शिवगुप्तेन क्षत' है।
- ४- वाकाटक-गुप्त युग-पृ० १२४।
- ५- डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल-अंधकार युगीन भारत (संवत् २०१४, ना. प्र. काशी) पृ० २१२-२१६।
- ६- 'कहि एरिस वणस्स से राअसिरी, कौमुदीमहोत्सव, अक ४ पृ०. ३०. तथा डॉ० जायसवाल, वही, पृ० २१२।
- ७- एपिग्राफिया इंडिका, खंड १८, पृ० ३१६ तथा जायसवाल, वही, पृ० ३१० पर उद्धृत-पाद संदर्भ संख्या २।
- ८- मनुस्मृति, ६/१४१-१४२ तथा याज्ञवल्क्य स्मृति २/१३० पर मिताक्षरा टीका।
- ९- वशिष्ठ धर्मसूत्र १५/६/७, 'सन्नेहे चोत्पन्ने दूरे बान्धवम् शूद्रमिवस्थापयेत्'।
- १०-मनु०, १०/२२
- ११-अमरकोश-द्वितीय काण्ड/का. ७/५४-ब्राह्मणः संस्कार

हीनः स्यात्' ।

१२-द्रष्टव्य-पाणिनि के सूत्र ५/२/२१ पर भाष्य ।

१३-डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल-इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि (वाराणसी, १९६३) ४४२-४४३ ।

१४-पी० वी० काणे-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (हिन्दी अनुवाद, हिन्दी समिति, उ०प्र०) भाग १, पृ० १३६ ।

१५-ए० सी० बनर्जी-स्टडीज इन ब्राह्मण (वनारस, १९६३) पृ० १८६ ।

१६-मनु० १०/२० ।

१७-डॉ० जायसवाल-वही, पृ० २१२ ।

१८-डॉ० जायसवाल-वही, पृ० २१४ ।

१९-बीवायन, १/१/३२

२०-महाभारत-८/४४/११ तथा डॉ० बुद्धप्रकाश, महाभारत एक ऐतिहासिक अध्ययन (१९५६, त्रिवेणी प्रकाशन, इलाहाबाद) पृ० ४३ ।

२१-पतंजलि-पाणिनि ६-१-६५ पर भाष्य ।

२२-पतंजलि-वही ।

२३-कारो वधे निश्चये च, मेदनी शब्द कांड/३ ।

२४-मनु० १०/८२, याज्ञवल्क्य स्मृति ३/३५ ।

२५-मनु० २/३१-३२ ।

२६-भारतीय अनुशीलन (डॉ० गौरीशंकर, हीराचन्द्र ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९३३) डॉ० हावर का लेख पृ० १३ ।

२७-भारतीय अनुशीलन, पृ० १३ ।

२८-एपि० इडि० खंड १८, पृ० ३१६ तथा सरकार-वही, पृ० १६२ ।

२९-डॉ० उदयनारायण राय-गुप्त सम्राट और उनका

काल (प्रथम संस्करण, इलाहाबाद) पृ० ४५ ।

३०-हेमचन्द्रराय चौधुरी-पोलीटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट इंडिया (हि० अनु०) १९७१, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० ४७२ पर पाद टिप्पणी ।

३१-डॉ० जायसवाल-वही, पृ० ३५ ।

३२-डॉ० उदयनारायण राय, वही पृ० ४६-५२ ।

३३-प० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय मेमोरियल वाल्यूम (प्राचीन इतिहास, सं० एवं पुरातत्व-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९७५) में प्रो० जसवन्तसिंह नेगी का लेख, पृ० २३-२४ ।

३४-हरिवंशपुराण-१/२६/८ 'पुत्रो गृत्समदस्यापिशुनको यस्य शौनकाः ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च' ।

३५-हरिवंश पुराण-१/३२/४० ।

३६-वाकाटक-गुप्त युग, पृ० २५०-२५१ ।

३७-पाणिनि, ७/३/३८ पर पतंजलि का भाष्य ।

३८-वीणापाणि-हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन (सूचना विभाग, उ० प्र०, १९६०) पृ० १२३ ।

३९-मजूमदार कम्बुजदेश (मद्रास १९४४) अमिलेख नं० १८२, पृ० ५१५, ५४१ ।

४०-भारतीय अनुशीलन-डॉ० जायसवाल का लेख ।

४१-डॉ० उदयनारायण राय-वही, पृ० ३८ ।

४२-इडि० डि० क्वा० १९३३, पृ० १३० तथा डॉ० उदयनारायणराय-वही, पृ० ३८ ।

४३-डॉ० वासुदेव उपाध्याय-गुप्त साम्राज्य का इतिहास (१९६६, इंडियनप्रेस, प्रयाग) प्रथम भाग, पृ० २३ ।

वैशेषिकदर्शने श्रीधरस्य न्यायकन्दली

—डॉ० सत्यनारायण मिश्रः—

संसारेऽस्मिन्ननुभूयते जनेर्दुःखः यास्तित्वं जन्मतो मरण पर्यन्तम् । साधारणदृष्ट्यापि तैरैतिकञ्चिदुःखमपि गम्यते । तदपि वस्तुस्थितौ दुःखमथवा दुःखमूलमेव । फलतो मध्यजना दुःखस्यात्यन्तिकैकात्मिकनिरासाय सचेष्टा दृश्यन्ते । यदुक्तं महाकवि भारविना—

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्ततापदः

इति त्यज्ये भवे भव्यो मुक्तावृत्तिष्ठते जनः ॥^१

दुःखस्य सर्वथा निरासः कथं सम्भवेदिति विचारायैव प्रवृत्ता दार्शनिकास्तत्प्रतिपादितानि दर्शनानि च । वैशेषिकदर्शनमपि तेषामेकः सम्प्रदायः । महर्षिकणादैः परममाहेश्वरप्रसादादिदं दिव्यज्ञानमवगम्य लोकानुग्रहार्थं दर्शनरूपेणैषा विचारधारा प्रस्तुता यथा सांसारिका अपि दुःखस्यैकान्तिकात्यन्तिकनिवृत्तिं प्राप्तुं शक्नुवन्तु । अतएवोक्तञ्च तत्र-धर्मविशेषप्रसूताद् गुणकर्मसामान्य-विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां ज्ञानान्निःश्रेयसमिति^२ । धर्मविशेषप्रसूतादित्यत्र धर्मस्य च परिचयदत्तवन्तो यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म इति सूत्रेण । एतावता । महर्षिभिस्तैर्वैशेषिकदर्शनमिदं भोगमोक्षयोरुभयोः कृते निर्मितमिति प्रवृत्तिनिवृत्तीनां समग्रसंसारिणामभ्युदयनिःश्रेयसयोरर्थात् भोगमोक्षयोः साधनभूतमिदमिति वैशिष्ट्यमस्य दर्शनान्तरेभ्यः सर्वेभ्यः । धर्मविशेषप्रसूतमेव व्याकुर्वन्त आहुः प्रशस्तदेवपादा अपि— 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः'^३ निःश्रेयस हेतुरित्यत्र निःश्रेयसपदं सर्वदुःखनिवृत्तिपरमतस्ततो भोग-मोक्षयोरुभयोरग्रहणं प्रशस्तपादस्याभिप्रेतमिति साधु समवगन्तुं शक्यते पूर्वोक्ताभ्यां कणादसूत्राभ्याम् ।

प्रशस्तदेवकृतमिदं भाष्यं हि सर्वाधिकं प्रतिष्ठतं प्राची-
नञ्च परिगण्यते समुपलभ्ये केषुचन सूत्रव्याख्याग्रन्थेषु ।
भाष्यमिदं परवर्तिनां सर्वेषां वैशेषिकदर्शनविस्तारिणां
संस्कृतसाहित्यग्रन्थानामाधारशिलाभूतमित्यत्र मन्ये
नास्तिकस्यापि विप्रतिपत्तिर्यतोहि वैशेषिकदर्शनोपस्कार-
कणादरहस्यप्रभृतिग्रन्थनिर्मातारः शंकरमिश्रप्रभृतयः
इदमेवानुसृत्य स्वान् स्वान् ग्रन्थान् प्रणीतवन्तः । व्योम-
शिवोदयनश्रीधराचार्यप्रभृतिभिर्वैशेषिकसमीक्षकैरपि भाष्य-
स्यास्य महत्त्वं प्रत्यपादि^४ । अतएव भाष्यमाश्रित्य
बहूनां टीकोपटीकानां सरणिः प्रचलिता । कन्दल्यामुपरि
पञ्जिकाख्यटीकाकारेण राजशेखरेणास्य विवरणमित्थं
प्रकटितम्—तेषु सूत्रेषु प्रशस्तकरदेवोभाष्य सकृद्गुणनमात्रेण
महोग्रदंष्ट्रकविषापहारदृष्टलोकोत्तरवैभवं चकार । तच्च
चतुर्थो वृत्तयो निवृत्ताः । एकां व्योमवतीनाम्नीवृत्ति
व्योमशिवाचार्यो जुगुम्फ । द्वितीयां तु न्यायकन्दल्यमि-
धानां श्रीधराचार्यः सन्दर्भम् । तृतीयां किरणावलीनाम्नी-
मुदयनाचार्यस्ततान् । चतुर्थी तु लीलावतीतिख्यातां
श्रीवत्साचार्यो बबन्ध^५ ।

उपरिलिखितोद्धरणेन पूर्वोक्तासु टीकासु सर्वासु व्योम-
वती प्राचीनतमा प्रतीयते । अस्या लेखकस्याचार्यव्योम-
शिवस्य समयः ख्रिष्टाब्दस्य सप्तमशतकस्य पूर्वार्धः स्त्री-
क्रियते । किरणावल्या रचयिता उदयनाचार्यस्तु प्रसिद्ध
एव किन्तु व्याख्येयं बुद्धिगुणनिरूपणपर्यन्तैव प्रकाशि-
ताऽभवत् । न्यायलीलावती नाम्याष्टीकायाः कर्तृत्वं
राजशेखरस्योक्तोद्धरणेन ज्ञायते परन्तु अद्यावधिपर्यन्त-
मित्यं टीका नोपलब्धा । आसु सर्वासु न्यायकन्दली
व्याख्याऽधिका सरला सुबोधा चास्ति । अस्या भाषातीव
ग्रन्थाशयाभिव्यञ्जिका वर्तते । इयमपि विशेषताऽस्या

यद् इयं समग्रभाष्योपरि अविच्छिन्ना समुपलभ्यते । अस्या व्याख्याया निर्माता भट्टश्रीधरो वज्रप्रान्तस्य भूरिसृष्टिरिति ग्रामस्य वास्तव्य आसीत् । अस्मै पितुर्नाम बलदेवस्तथा मातुरभिधानमव्वोका अच्छोका वेति आसीत् । इयं न्यायकन्दली टीका वैशेषिकदर्शनजिज्ञासु-
णामाधुनिकच्छात्राणां कृते नातिगभीराऽपितु विषयाव-
बोधिकाऽस्ति । डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तमहोदयेनास्याः प्रशंसायामुक्तम्— Of these Nyaya Kandali of Shri-
dhar on account of its Simplicity of style
and elaborate nature of exposition is probably
the best for a modern student of vaisesie.

स्वकीयन्यायकन्दलीटीकायाः प्रशस्तिरूपेण स्वय-
मेवायं विचारः श्रीधरोऽपि प्रकटयाञ्चकार यदियं न्याय-
कन्दली सुमेरुशृङ्गवीथीव वर्तते यतोहि सुमेरुशृङ्गसुवर्ण-
मयत्वादत्यन्तरमणीयं तथैवेयमपि सुवर्णमयीत्वेन (शोभन-
वर्णालङ्कृतात्वेन) रमणीया । यथा सुमेरोः शृङ्गं सर्वे-
षां पर्वतानाम् उत्तरप्रान्तेषु विद्यते तथैवेयं टीका सर्वेषां
पूर्वपक्षानामुत्तररूपेण शोभतेतराम् ^७ । अस्मादनन्तरं
स्वकथितसर्वोत्तरस्थितिरिति शब्दस्य व्याख्यां कुर्वता
तेनोक्तं यत् सर्वोत्तरस्थितेयं न्यायकन्दली स्वकीय-
परिपुष्टसिद्धान्तानां बलेनानेकगुणान् ख्यापयन्ती सत्य-
न्येषां सिद्धान्तान् दलति । श्रीधरस्योक्तविचारस्य सूक्ष्म-
दृष्ट्यावेक्षणनेदं सुस्पष्टं भवति यत् कस्मिन्नपि साहित्ये-
ऽन्तर्निहिते द्वे वस्तुनि तत्त्वरूपेण वर्तते-प्रथमं प्रतिपादकः
शब्दः, द्वितीयञ्च शब्दप्रतिपाद्योऽर्थः । सुवर्णमयीत्वेनेयं
रमणीया इत्यनेनास्याः शब्दसौष्ठवं व्यक्तीभवति तथा
च स्वसिद्धान्तगतगुणानां ख्यापनेनास्याः प्रतिपाद्यार्थस्य
महत्त्वं प्रस्फुटीभवति । इयमेव सर्वोत्तरस्थितिर्या सर्वेषां-
मन्येषां पूर्वपक्षादीनां सिद्धान्तान् दलति ^८ । इत्थं तेनास्या
नाम्नोऽन्वर्थकता प्रतिपादिता ।

भारतीयदर्शनशास्त्रस्य मूर्धन्यविद्वान् वात्स्यायन
भाष्यस्य विस्तृतव्याख्याता 'न्यायपरिचय' इति नामकस्य
वंगभाषीयग्रन्थस्य प्रणेता स्वर्गीय महामहोपाध्यायफणि
भूषणतर्कवागीशमहोदयः श्रीधरभट्टपादानां तेषां न्याय-
कन्दल्याश्च विषये इदमित्थमाह—श्रीधरभट्टन्यायवैशेषिक-
शास्त्रे ओ अद्वितीय पण्डित छिलेन, इहा तहार न्याय-
कन्दली ग्रन्थ पाठेयी बुझा जाय । सर्वदेशेप्रसिद्धप्रशस्त
पादभाष्य टीका न्यायकन्दली तहार अक्षयकीर्ति ^९ । तर्क-

वागीशमहोदयस्योपरिलिखितवचनान्यायकन्दल्याः टीका-
या महत्ताऽत्यधिका व्यक्ता भवति यतो हीयं कन्दली
श्रीधरपादानां पाण्डित्यस्य परिचायिकाऽस्ति । अक्षय-
कीर्तिरिति शब्दस्य प्रयोगेणैकतस्तर्कवागीशमहोदयेन
न्यायकन्दल्या उपयोगिता वर्णिता अपरत्रैतत्तानां
गुणानां समुज्ज्वलता ख्यापिता ।

ग्रन्थेऽस्मिन्नीश्वरस्य विषयेऽन्धकारस्य दशमद्रव्यत्व-
निरसनेऽभावस्य पदार्थत्वनिर्णये नवीनोद्भावनाः श्रीधरेण
कृताः । अत एवोक्तं सर्वपल्लिराधाकृष्णन्महोदयेन—

Both Shridhar and Udayana admit the exi-
stence of God and accept the Category of
nonexistence ^{१०}

एतावता भट्टश्रीधरस्यास्या न्यायकन्दल्याऽटीकायाः
सर्वातिशायिता सिद्धयति वैशेषिकदर्शने तस्मात्सहृदय-
विवेचकानां मनसि समुत्कण्ठयतु चेदियमित्यत्र नाश्चर्य-
स्य विषयः ।

संदर्भः—

१-किरातार्जुनीयम् (११/१३) ।

२ वैशेषिक सूत्रम् (१-१-४) ।

३-प्रशस्तपादभाष्यम् पृ. १ ।

४- (क) 'अस्मदादेः संग्रहादेवज्ञानम्' व्योमवती पृष्ठे
३३, (ख) 'वैराघं लघुत्वं कृत्स्नत्वञ्च प्रकर्षः'
किरणादली पृष्ठे ५, (ग) तदुपनिबन्ध वैशिष्ट्यस्य
मन्वादिकाव्यवमहाजनपरिग्रहादेव प्रतीतेः न्याय-
कन्दली पृष्ठे ४ ।

५- विश्वेश्वरी प्रसादद्विवेदसम्पादितसटीकप्रशस्त
पादभाष्यस्यविज्ञापनस्यविशतितमे पृष्ठे उद्धृतम् ।

६- A History of Indian Philosophy volume
I, P. 306.

७- सुवर्णमयस्थानरम्यां सर्वोत्तरस्थितिः । सुमेरोः
शृङ्गवीथीव टीकेयं न्याय कन्दली ॥

न्यायकन्दली पृ. ३३० ।

८- अक्षीणनिजपक्षेपुख्यापयन्ती गुणानसौ । परप्रसिद्ध-
सिद्धान्तान् दलति न्यायकन्दली ॥ वही, पृ. ३३०

९- न्याय परिचये पृष्ठे ३ ।

१०-Dr. Radha Krishnan-Indian Philosophy
volume II, P. 181.

वैदिक कालीन दासों के अभिज्ञान की समस्या

—डॉ० गोरखनाथ

‘दास’ शब्द की आंग्ल भाषा के ‘स्लेव’ शब्द से रूपान्तरित कर प्रस्तुत करने की आम प्रथा रही है। ये शब्द उस हीन एवं पराधीन व्यक्ति के बोधक हैं जो अपने स्वामी के लिये अति निम्न कार्य करने को भी बाधित होता है। दास्य भाव वाला ऐसा व्यक्ति अपने स्वामी से स्थाई अथवा अस्थायी रूप से अनुबन्धित होता है। इस अनुबन्धन काल में इस पर स्वामी का सर्वोच्च अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त यह शब्द दो व्यक्तियों के बीच सेवक-सेव्य भाव की अभिव्यक्ति के लिये भी प्रयुक्त होता है। इसमें वही परम्परागत अर्थ अन्तर्निहित है।

आश्चर्य है कि स्लेव और दास में कोई भाषागत अथवा ध्वनिगत साम्य नहीं है। प्रायः सम्पूर्ण यूरेशियाई भाषाओं में ‘स्लेव’ शब्द किसी न किसी रूपा में प्राप्त है जहाँ अर्थ साम्य के साथ ध्वनि साम्य भी दृष्टिगत है। दास के अतिरिक्त स्लेव के अन्य अर्थों में गृह (House), कार्य करना (work), पीड़ित करना या दबाना (oppress, trouble or distress) तथा तीव्र (Quick) है। इनमें कुछ को दासत्व से सम्बन्धित किया जा सकता है। पर दास के साथ ऐसा कुछ भी नहीं है। दास शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य भारोपीय भाषाओं में कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त नहीं है और न ही इसका अर्थ वह है जो स्लेव का होता है। न्यू पर्सियन में दाह (dah) शब्द अवश्य प्राप्त है जिससे दास का ऐक्य हो सकता है। ‘दाह’ का अर्थ यहाँ ‘स्लेव’ किया जा सकता है। पर्सियन का ‘ह’ संस्कृत में ‘स’ होता है। अस्तु दाह से दास अथवा दास से दाह यह एक सुराग प्राप्त है।

भारतीय परम्परा में दास शब्द स्लेव का पर्याय बन कर ऐसे अर्थ-विशेष की अभिव्यक्ति करना आ रहा कि सद्यः यह विश्वास करना कठिन है कि वैदिक समाज की प्रारम्भिक अवस्था में यह एक समूह (Community) का बोधक था जिससे आर्यों का घोर वैमनस्य था भारतीय संस्कृति आर्य-आर्येतर संस्कृतियों के संघर्ष एवं सम्मिलन की समवेत रूप है। इनमें आर्येतर धाराओं का नाम गिनना प्रायः असम्भव सा है। इसका कारण है इनका संख्यातीत होना जिनमें बहुत सी अब भी अज्ञात हैं। द्रविण, निषाद किरात, असुर, राक्षस दस्यु, दास, गण, पूग, ब्रात, पणि, तुर्वश, मत्स्य, भृगु, द्रुह्यु, पल्लव, भलानस, अलिनस, शिव, विषणिस, वैकरण अनु, अज, शिगु, यक्षादि में कुछ ऐसी हैं जिनके विषय में निश्चिन ज्ञान तक पहुँचना अभी शेष है¹। वैदिक आर्यों के आक्रमण एवं संक्रमण काल में जब भौगोलिक-सांस्कृतिक सीमाएँ खण्डित हो रही थीं उस समय यह कहना कठिन है कि इन सबका पृथक्-पृथक् अस्तित्व अधिक दिनों तक स्थिर रहा। सम्भवतः इनमें यथेष्ट सम्मिश्रण हुआ जिसके परिणामस्वरूप आर्येतर जातियों की संयुक्त संज्ञा अथवा विशेषण रूप में असुर, राक्षस दस्यु और दास प्रयुक्त हुए। वैदिक ग्रन्थों में जहाँ ये चारों प्रयुक्त हैं वहाँ विशेष अर्थों में ये अत्यल्प ही आये हैं, वस्तुतः ये सब उन सब ही संज्ञा हैं जो आर्य-विरोधी हैं।

दस्यु, दास, पणि आदि प्राग्-वैदिक कबीलों से आर्यों की शत्रुता थी जिसके परिणामस्वरूप वे आर्यों की दृष्टि में निम्न थे। यह विरोध कहाँ तक जातिगत (Racial) था, कहना कठिन है²। फिर भी स्थूल रूप

से शारीरिक बनावट, शरीर का रंग, भाषा, संस्कृति, धार्मिक विश्वास आदि के क्षेत्र में वैपम्य के आधार पर दोनों वर्गों में अन्तर की खाई अति विस्तृत दृष्टिगत होती है जो शनैः शनैः पटती जाती है। पुनः आर्येतर जन भी पर्याप्त शक्तिशाली लगते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मुकाबला बराबरी का है। यह भी ध्यान देने की बात है कि आर्यजन अथवा ऋषि आर्येतरों से समान व्यवहार नहीं करते। विजितों में प्रायः उपेक्षित वही हैं जो कबीले के सामान्य सदस्य हैं। सम्भवतः समाजीकरण पर सर्वाधिक पृथक् और अनादृत स्थिति इन्हीं की हुयी। कबीले के प्रमुखों अथवा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों से तो आर्यों के भिन्न प्रकार के संबंध स्थापित हो जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य-आर्येतर समुदाय स्वयं में स्तरीकृत था और सम्मिलन काल में आर्येतरों के प्रथम-द्वितीय पंक्ति के जनों ने देर-सदेर सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की, ऐसे में शम्बर³ मुदास⁴ आदि व्यक्ति वाचक नामों के अतिरिक्त 'पणि'⁵ भी उल्लेख्य है। पणि अनेकशः दास, असुर, राक्षस आदि सम्बोधनों के साथ अनादृत होकर अन्ततः वैदिक समाज के वणिक बने। ऐसे ही आर्येतरों के आचार्यों (आखिर धार्मिक अभिव्यक्ति इनमें कहीं न कहीं तो थी ही) के विषय में कल्पित है जो निश्चय ही पौरोहित्य में लगे और ब्राह्मण कहलाये⁶। इसके विपरीत सभी आर्यों को द्विजत्व ही प्राप्त हुआ, संदिग्ध है। ऐसे अनेक सकेत प्राप्त होते हैं। कि आर्येतरों के साथ आर्यजन भी आर्यों के कोपसाजन बने थे⁷।

ऊपर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आर्येतरों के सर्व प्रचलित सम्बोधन दस्यु, दास, असुर और राक्षस शब्द थे, जो पृथक्-पृथक् समुदायों के बोधक होने के साथ परस्पर पर्याय भी थे। दस्यु-दास भारतीय शब्द प्रतीत होते हैं क्योंकि ये इण्डो-ईरानी एव इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में बहुचर्चित थे। दास का एक अर्थ 'तास' था जो अजनबी के अर्थ में प्रयुक्त होता था। दास-दस्यु दोनों इण्डो-ईरानी भाषा में जन के लिये प्रयुक्त हैं। दस्यु शब्द अवेस्ता में प्रायः प्रयुक्त है। हषा-मिनी अभिलेखों में यह दैन्यु, (Dainyu), दस्यु (Dakhyu) तथा दप्यु (Dapyu) रूपों में आया है⁸।

पर कहीं भी निन्दा का प्रसंग इनके साथ नहीं जुड़ा है। जरक्सीज के पार्सिपीलिश अभिलेख में दहाई है जो 'दह्यु' का ही एक रूप है⁹। यहाँ यह एक जाति के लिए प्रयुक्त है जो कैस्पियन सागर के पार रहती थी। इस पर ए० सी० दास का विचार है कि यह जाति मर्कान के पश्चिम से लेकर बलूचिस्तान तक रहती थी, ये लोग आर्यों द्वारा खदेड़े गये दास ही थे¹⁰। हेरोडोटस ने भी 'दओई' या दाई नामक एक जाति का उल्लेख किया है¹¹। आर० पी० केण्ट ने बताया है कि दहाई शब्द मध्ययुगीन दहिस्तान में प्रचलित था। बेहिस्तुम अभिलेख में डेरियस अपने को 'क्षायथिय दह्युनाम' अर्थात् प्रान्तों (Provinces) का शासक कहता है। इसका समानान्तर वैदिक साहित्य में 'क्षत्रियो दस्युनाम्' प्राप्त है जिसका अनुवाद दस्युओं का शासक किया जा सकता है¹²। दोनों में अन्तर अर्थ-परिवर्तन का है जो प्रथम में 'प्रदेश' अथवा 'प्रान्त' अर्थ में प्रयुक्त है। तो द्वितीय में जन के लिए। यह सब कुछ ऐसे ही है जैसे पार से परसिया और माड से मीडिया बने हैं। आधुनिक पर्सियन में दह्यु जीवित है। 'दिह' के रूप में जिसका अर्थ है ग्राम¹³।

अस्तु दस्यु-दहाई एक जाति थी जो कैस्पियन सागर से सीरदरिया और पश्चिमोत्तर भारत अर्थात् पंजाब तक फैली हुई थी। अवेस्ता में प्रयुक्त 'अर्यनम दह्युनम' अर्थात् 'आर्याणाम्', 'दस्युनाम्' से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। इससे यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आर्य एक सांस्कृतिक समूह का सम्बोधन था उसी प्रकार दस्यु भी मानव समूह का। इसकी भी अपनी संस्कृति थी। ऐसे ही वैदिक पंचजनो में 'द्रुह्यु' जन का उल्लेख हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। यह असंभव नहीं कि 'द्रुह्यु' और 'दह्यु' में भी ध्वनि साम्य है, और वह दोनों के किसी संबंध का द्योतक हो¹⁴।

दास-जन का पृथक् अभिज्ञान कठिन है¹⁵। ये प्रायः दस्यु-जन के साथ उल्लिखित हैं। इनकी पृथक् जनजाति रही भी होगी। तब भी सभी वैशिष्ट्य दस्यु-प्रकार की जातियों से अभिन्न होंगे। सम्भवतः दास दस्युओं से अभिन्न थे और नहीं तो आर्यों के विरुद्ध युद्ध में

दस्युओं की निकट सहयोगी यह कोई जाति थी। शारीरिक बनावट, भाषा, संस्कृति, धार्मिक-धारणा, विपुलकाय पुर-दुर्ग निर्माण और आर्यों के कोष में 'दास' दस्युओं के साथ समान रूप से भागीदार दृष्टिगत होते हैं¹⁶।

दस्यु-दास के पश्चात् असुर शब्द भी पर्याप्त मनोरंजक है। असुर का प्रारम्भिक अर्थ 'प्राणवान्' था न कि आर्य-विरोधी अथवा आर्यों का शत्रु कोई जनसमुदाय। असुर = प्राण, अब भी प्रचलित है। वरुण को श्रद्धापूर्वक असुर संज्ञा से विभूषित किया गया है। जो आर्यों का प्रिय देव था¹⁷। किन्तु यही असुर इरानियन में 'अहुर' है जो उनका पूज्यदेव था। दूसरी इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में भी किसी न किसी रूप में इसकी उपस्थिति द्रष्टव्य है, यथा—मादिर्वन में अजोरी या अजोर, वोत्यक में उजीर, जिरियन में बोजोर और बोगल में वोटर तथा आटर¹⁸। सम्भवतः कहीं पर भी असुर का वह अर्थ नहीं है जो वैदिक आर्यों में विकसित हुआ। असुर के ठीक विपरीत देव शब्द की स्थिति है। यह आश्चर्य की बात है कि देव और असुर के अर्थ स्थान-भेद के अनुसार परस्पर विपरीत हुए। ईरानियों में अहुर देवता था और देव अपकारी सत्ताएं और आर्यों में देव देवता था तथा असुर मानव विरोधी रहस्यमय शक्तियां। भारत में इसी असुर में से 'अ' पृथक् कर सुर को देवबोधक मान लिया गया तथा सुर-असुर परस्पर विरोधी बन गये। यह ठीक वैसे ही हुआ जैसे असित से सित है।

प्राग् आर्य सभ्यताओं में दजला-फरात घाटी में असीरिया की सभ्यता विकसित थी जहाँ के लौकिक पारलौकिक जीवन में असुर परित्याप्त था। शासक असुर नामधारी थे, राजधानी असुर नाम पर थी तथा प्रमुख देवता भी असुर ही था। यहाँ विवाह में कन्या के पिता को कुछ प्रदान करने की प्रथा थी जो भारत के असुर विवाह में दिखाई देती है।

वैदिक एवं परवर्ती परम्परा में असुर एक विशेष जाति-रूप में मान्य है जिनकी अपनी धर्म-संस्कृति-साहित्य भाषा आदि थी। इनकी आभूरी विद्या माया से आच्छन्न थी¹⁹। पारंपरिक आठ विवाह-प्रकारों में असुर नाम से एक प्रकार सम्मिलित करना काफी महत्वपूर्ण है।

वैदिक साहित्य में एक ऐसा स्थल आता है जिससे

इस पर प्रकाश पड़ता है कि देव-असुर की उत्पत्ति का मूल स्थल एक है। शतपथ ब्राह्मण²⁰ में देव तथा असुर को प्रजापति की सन्तान कहा गया है। यहाँ इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि दोनों के मध्य अप्रीतिकर संबंध पौत्रिक धन के विभालन को लेकर उठ खड़ा हुआ था।

असुरों के साथ राक्षस भी विवेच्य हैं, जो कभी अकेले तो कभी साथ-साथ उल्लिखित हैं यथा—असुर राक्षस तथा राक्षसोसुर। राक्षसों को ब्रह्मा के चरण से उत्पन्न कहा गया है²¹। यक्षराज कुबेर और राक्षस राज रावण दोनों भ्राता निर्दिष्ट हैं। इनमें कुबेर चौथे लोकपाल होकर ब्राह्मणधर्मावलम्बियों के उपास्य बने तो रावण ब्राह्मणधर्म विरोधी अपकारी सत्ता का प्रतीक बना। यहाँ भी वैमनस्य की जड़ लंकापुरी है। रामायण में राक्षसों की दुष्प्रवृत्ति का संकेत है पर इसे अवान्तर-कालीन प्रवेश कहा गया है।

इस प्रकार इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्य-आर्येतर प्रकरण में पणि, दास, दस्यु, असुर आदि आर्येतरों के विषय में जो निन्दामूचक वाक्य, इनके प्रति उपेक्षा, घृणा और अपकारी सत्ता होने की बात कही गई है, इनका कोई पृष्ठ आधार नहीं था। यह सभी संघर्ष एवं जय-पराजय कालीन स्थितियों की उपज है। युद्ध में दास-दस्यु आदि आर्येतर जातियों द्वारा जो प्रबल प्रतिरोध किया गया उससे युद्ध की ज्वाला और बढ़ गई। वृत्त, शम्बर आदि शक्तिशाली जन-नायकों का इतहास हमारे सामने है जिनके साथ युद्ध में आर्य और उनके देवताओं के छक्के छूट गये थे। एक दस्यु प्रमुख कृष्ण का उल्लेख प्राप्त है जो अंशुमती यमुना के तट पर अपने सहस्र अनुयायियों के साथ रहता था और आर्यों को उत्पीड़ित करता था²²।

अन्ततः इस भयावह युद्ध में विजयश्री आर्यों के हाथ गयी और दास-दस्यु मृत्यु के शिकार हुए या युद्ध बन्दी के रूप में आर्यों की पकड़ में आये। ऋग्वेद के एक प्रसंग में इन्द्र को तीस सहस्र दस्युओं का हन्ता कहा गया है²³ तो अन्यत्र एक सहस्र दस्यु पकड़ में आये²⁴, ऐसा उल्लेख है। आर्यों के लिए युद्ध सहस्रों लाभ-प्राप्ति के साधन थे²⁵ जिनमें शत्रु धन के सहित

उनके हाथ लगते थे।²⁶ एक स्थल पर तो स्पष्टतः धन के साथ सैनिकों की जीत का उल्लेख है।²⁷

अब जहाँ तक दास और दासता का प्रश्न है, इसका इतिहास आर्य-आर्येतर संघर्ष, सम्मिश्रण अथवा परस्पर सामाजीकरण से प्रारम्भ होता है। दस्यु दास नामक कबीले तो थे पर ये दास कर्मकर थे, ऐसा नहीं। और जब दासता का संस्थाबद्ध इतिहास प्रारम्भ हुआ तब इसमें दास-दस्यु अथवा आर्येतर के अतिरिक्त आर्यों सहित भारोपीय परिवार के अनेकानेक लोग सम्मिलित हुए जिनका संबंध पंजाब और गंगाघाटी से था। चूँकि ईरान से लेकर पंजाब तक सर्वाधिक संख्या दास-दस्युओं की थी²⁸ अथवा आर्यों के विरुद्ध मुकाबले में विशेष प्रतिरोध इन्हीं की तरफ से था, इसलिए प्रायः दास-दस्युओं का ही नाम प्रचारित हुआ।

सामाजीकरण के इतिहास के आदि चरण से ही दासों से पृथक्तावादी दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा क्योंकि वैदिक सामाजिक व्यवस्था में दास चतुर्वर्ण के अन्तर्गत नहीं अपितु एक पृथक् वर्ग के रूप में परिगणित है। उल्लेख्य है कि निम्नस्थ शूद्र 'यथाकामबध्यः' होते हुए भी किसी न किसी सामाजिक मर्यादा से आवद्ध था जिसकी निम्न स्थिति की तुलना में दासों की स्थिति अधम थी। यह असम्भव नहीं कि दासों की भर्ती शूद्र वर्ग से भी होती हो। दासों को दान-उपहार²⁹ में प्रदान करने का जो विवरण प्राप्त होता है उससे स्पष्ट है कि इनका स्वामी इनसे स्वेच्छया व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र था अथवा दास स्वामियों की चल-अचल सम्पत्ति माने जाते थे। इससे इसकी सम्भावना बलवती होती है कि युद्धों में आर्य विजेताओं की जो लूट का धन (मुख्यतः पशु आदि) प्राप्त होता था वैसे ही युद्ध बन्दी भी और इनका भी अपने वैयक्तिक जीवन में वे वैसे ही उपयोग करते थे जैसे पशु आदि दूसरे धनों का। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी इस पेशे में रखी जाती थीं³⁰ जो अवान्तर कालिक क्रिया प्रतीत होती है जब दासत्व की संख्या समाज में स्थापित हो चुकी थी। दास की स्त्री दासी कही जाय अथवा दासता में रखी स्त्रियों को दासी नाम से जाना जाय, दोनों ही पूर्वोक्त स्थिति के द्योतक हैं। अस्तु, दासत्व का आरम्भ युद्ध बंदियों अथवा हमले में प्राप्त सैनिक

अथवा सामान्य लोगों की पकड़ से हुआ क्योंकि सम्पूर्ण मानवाधिकार खोने के पश्चात् विजेताओं पर निर्भर होने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प इनके समक्ष नहीं था। प्राचीन मिथ्य में भी युद्धबन्दी ऐसे ही दासत्व में लिये जाते थे। सुमेरिया में दास वे युद्धबन्दी थे जो दूसरे देश के सैनिक होते थे³¹। भारत में भी जबसे यह प्रथा प्रारम्भ हुयी 'ध्वजाहृत' नामक दास - कोटि अविच्छिन्न रूप से गतिमान रही।

अब अन्त में यह विचारणीय है कि आखिर इन्हें दास ही क्यों कहा, जब कि दास का शाब्दिक अर्थ सेवा से सम्बद्ध नहीं था। उल्लेख्य है कि युद्धबंदियों में सर्वाधिक संख्या दस्यु-दास कबीले के सदस्यों की अवश्य थी फिर भी दस्यु सहित असुर और राक्षस ये तीन संज्ञाएँ और भी थीं जो आर्येतरों के लिए प्रयुक्त होती थीं, इनके अभिज्ञान के लिए भी और उपहास के लिए भी। इन चारों शब्दों की मीमांसा इस ओर इंगित करती है कि दस्यु, असुर और राक्षस ये तीनों शब्द निन्द्य बन कर विशेष अर्थों में प्रयुक्त होने लगे, यथा-दस्यु-चोर-डाकू आदि। अन्त में दास ही ऐसा बचा जिसके पीछे अपमान सूचक किसी इतिवृत्त का अभाव था। अस्तु उन वैयक्तिक कार्यों में लगे और स्वामियों की सम्पत्ति समझे जाने वालों को 'दास' शब्द से सम्बोधित किया जाने लगा।³²

संदर्भः--

- १- द्रष्टव्य, एस० के० चटर्जी, इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० ५५; वी० डब्लू० करमवेलकर, दि अथर्ववेदिक सिविलाइजेशन, पृ० ५५-६४।
- २- ऐतरेय ब्राह्मण, ७.१८ में दस्युओं के अन्तर्गत आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिंद एवं मूतिबों का उल्लेख है जो विश्वामित्र द्वारा शापित इन्हीं के पुत्र थे। शतपथ ब्राह्मण, ३.२.१ के अनुसार असुरों की उत्पत्ति प्रजापति से है। रामायण, उत्तरकाण्ड, ४.१२ में राक्षस ब्रह्मा से निःसृत निर्दिष्ट है।
- ३- बल, बृवु, शम्बर आदि कतिपय व्यक्ति ऐसे थे जिसमें ऐश्वर्य सम्पन्नता के साथ अपार नेतृत्व क्षमता भी थी।

- ४- सुदास, दिवोदास, वसुदेव (पुरुकुत्स का पुत्र) आदि कुछ नाम ऐसे थे जो आर्यों में भी अति-प्रिय थे । इनमें दास-दस्यु नामान्त इनकी मिश्र-उत्पत्ति का स्पष्ट सूचक है । देखिए, ए० सी० दास, ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ० १३१ ।
- ५- निरुक्त, ऋग्वेद, १.३२.११ पर यास्क ।
- ६- एस० के० चटर्जी, वही, पृ० ५०, आर० के० चौधरी, ब्राह्मण इन एन्ड्रेण्ट इण्डिया, पृ० २६-३०, आर० पी० चौदा, दि इण्डो आर्यन रेसेज, पृ० १६७ ।
- ७- बुद्ध प्रकाश, पोलिटिकल एण्ड सोशल मूवमेण्ट इन एन्ड्रेण्ट पंजाब, पृ० ४२, ऋग्वेद, १.१५८-५, २.१३-८, ४.३०-१४५, ६.२४-१० आदि ।
- ८- सुकुमार सेन, ओल्ड परसियन इन्सक्रिप्सन, पृ० १२, ३४८-४९
- ९- आर० पी० केण्ट, लेंगेज, भाग १२, पृ० २१८
- १०- ए० सी० दास, वही पृ० १३१ ।
- ११- हेरोडोटस, १.१२६ ।
- १२- एच० डी० ग्रिस्वोल्ड, दि रीलिजन आफ दि ऋग्वेद, पृ० ३७ ।
- १३- प्रायः उत्तर भारत में ग्राम्य अंचल के लिए 'देहात' शब्द प्रचलित है तथा ऐसा खण्डहर जिस पर पहले आबादी रही हो उसे 'डीह' संज्ञा से जाना जाता है ।
- १४- द्रष्टव्य, एस० के० चटर्जी, वही, पृ० ५५, वी० डब्लू० करमवेलकर, वही, पृ० ५५, आर० पी० चौदा, वही पृ० ११,
- १५- ऋग्वेद १.१३४-५ के प्रसंग में मोनियर विलियम ने दस का अर्थ पीड़ित होना तथा शोषित होना किया है । आत्मने पद 'दास' का अर्थ 'दासति' अर्थात् देना होता है, ऐसा इनका विचार है ।

पुनः परस्मैपद की दासन्ति से अभिन्न कर ये चोट पहुँचाना अर्थ करते हैं । पर आश्चर्य की बात है कि स्त्रीलिंग दासी की व्युत्पत्ति इन्होंने 'कृ' धातु से माना है । पृ० ४७७ ।

- १६- द्रष्टव्य, ऋग्वेद ७-२१-५, १०-६६-३, १०-२२-८, ७-५-३, १-१०३-३, २-१२-४ ।
- १७- ऋग्वेद, १-१३१-१; १०-६२-६ ।
- १८- टी० बरो, दि संस्कृत लेंगेज, पृ० २४ ।
- १९- द्रष्टव्य, बुद्ध प्रकाश, वही, पृ० ३७-३८ ।
- २०- शतपथ ब्राह्मण, ३-२-१ ।
- २१- रामायण उत्तरकाण्ड, ४-१२ ।
- २२- ऋग्वेद, ८-६६-१३-५ ।
- २३- वही, ४-३०-१५ ।
- २४- वही, २.१३.८-९ ।
- २५- वही १-७-४, सहस्र प्रधानेषु वाजेषु ।
- २६- वही, १-८-२, नि येन मुष्टिहृत्यया नि वृत्रा त्वो तासोन्यवन्ता ।
- २७- वही, १-१७८-३, नृभिः जेता ।
- २८- एस० के० चटर्जी, वही, पृ० १७-१८, बुद्ध प्रकाश, वही, पृ० ३४, वेदिक इण्डेक्स, पृ० ३०१
- २९- ऋग्वेद, ८-५६-३, शतं मे गर्दभानां शतमूर्णवितीनाम् । शतं दासां अति सजः ॥
- ३०- ऋग्वेद, ८-१६-३६ ।
- ३१- इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, भाग १४, पृ० ७४ ।
- ३२- पणियों का उल्लेख विचित यात्रा में इस प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकता है । पणि जिनके लिए उपर्युक्त चारों शब्द हैं, इन्हें निन्दित करने हेतु कहे गये हैं । स्वर्ग धन से सम्बन्धित होने के कारण ये वणिक् बन गये (पणिर्वणिक् भवति) ।



मानस-दीक्षा

—डॉ० श्रीकृष्ण उपाध्याय

‘मानस-दीक्षा’ का यहाँ तात्पर्य है रामचरित मानस में दीक्षा ।

दीक्षा--

दीक्षा साधना का एक प्रमुख अंग है । तंत्रशास्त्र में दीक्षा का वितृत वर्णन मिलता है । ‘दीक्षा’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए शारदा तिलक तंत्र में कहा गया है कि जिससे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति और पाप का नाश हो उसे दीक्षा कहते हैं:-

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात् कुप्यति पापस्य संक्षयः ।

तस्मात् दीक्षेति संप्रोक्ता देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः¹ ॥

दीक्षा से परमात्मा में अविचल विश्वास, अटूट श्रद्धा और अखण्ड आत्मीयता का अनुभव होता है । साधना में पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं । तंत्र शास्त्र में यह सावधान किया गया है कि जो पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर साधना करता है, उसे सिद्धि की बात तो बहुत दूर, पग-पग पर हानि होती है-

पुस्तकाल्लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते ।

न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे-पदे² ॥

शिक्षा--

शिक्षा (पुस्तकीय ज्ञान) श्रुत ज्ञान है, और दीक्षा अनुभूत ज्ञान । शिक्षा से पापों का ज्ञान होता है, दीक्षा द्वारा उनका नाश । शिक्षा द्वारा परमात्मा के रूप-स्वरूप का ज्ञान होता है, दीक्षा द्वारा उसका साक्षात्कार । शिक्षा द्वारा भौतिक जीवन में सुख-सुविधा की प्राप्ति होती है, दीक्षा द्वारा आध्यात्मिक जीवन में आनन्द एवम् परम शान्ति की प्राप्ति ।

गुरु--

दीक्षा साधना का प्रवेश-द्वार है । शास्त्रादेश है कि

गुरु द्वारा विधिवत् दीक्षाभिषिक्त होने के बाद साधना क्रिया प्राप्त करे और साधना में प्रवेश करे-

प्रविश्य विधिवत् दीक्षाम् अभिषेकावसानिकाम् ।

श्रुत्वा तन्त्रं गुरोर्लब्धं साधयेदीप्सितं मनुम्³ ॥

दीक्षा नित्य गुरु-कृपा का प्राकट्य है । साधना गुरु प्रधान है । आध्यात्मिक जीवन में गुरुसम्मत समस्त क्रियायें सफल हैं, गुरु-असम्मत समस्त क्रियायें निष्फल-

गुरुमुखाः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्ति फलप्रदाः ।

तस्मात् सेव्यो गुरोर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैः ॥

गुर्वनुक्ताः क्रियाः सर्वा निष्फलाः स्युर्यतोऽधुवम्⁴ ॥

तंत्रों में विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं एवम् उनसे सम्बद्ध क्रियाओं (कर्मकाण्ड) का विधान है⁵ ।

दीक्षा-प्रक्रिया--

दीक्षा मात्र कर्मकाण्ड नहीं, अपितु भावात्मक योग है । दीक्षा के द्वारा गुरु, शिष्य को अपने में आत्मसात करता हुआ किसी विशिष्ट विद्या से परमात्मा के साथ संबन्ध स्थापित करता है । दीक्षा के बाद गुरु शिष्य के न केवल नित्य शरीर का स्वामी होता है, बल्कि तिष्ठ शरीर का भी । गुरु शिष्य के तिष्ठ शरीरगन दोषों का विशोधन करता हुआ नित्य शरीर में उसे दृढ़ करता है । स्वामी श्री ललित किशोरी जी का सिद्धान्त है कि ‘शरणागत अपने आपको छोड़ा बेचने वाला जाने, जैसे धोड़ा बेच देने पर उसे छोड़े के दाने-पानी की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, चिन्ता करनी पड़ती है मोल लेने वाले को⁶ ।’ श्री आचार्य का वचन है कि ‘जितने आचार्य हैं, उनके दो-दो स्वरूप हैं । नित्य से इष्ट का लाड़, तिष्ठ से जीवो-पदेश⁷ । तिष्ठ विग्रह, तिष्ठ धाम एवं तिष्ठ गुरु की सेवा से ही नित्य भाव स्वरूप की प्राप्ति होती है । यह

लीला वपु है, जो चर्म चक्षु से दिखाई पड़ता है, स्वरूप का दर्शन कृपा से होता है^८। दीक्षा में गुरु अपनी कृपा दृष्टि से शिष्य का चैतन्य अपने चैतन्य से युक्त कर उसके पडध्व का विशोधन करता है—

विलोक्य दिव्यदृष्ट्या तं तच्चैतन्यं हृदयाम्बुजात् ।

गुरुरात्मनि संयोज्य कुर्यात् अध्वविशोधनम् ॥^९

तत्पश्चात् गुरु अपने चैतन्य को शिष्य में प्रतिष्ठित करता है—

विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिषुं देशिकोत्तमः ।

आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत् ॥^{१०}

शिष्य में गुरु के चैतन्य की प्रतिष्ठा गुरु के इष्ट की प्रतिष्ठा है। इसीलिये तन्त्रकार का विधान है कि गुरु शिष्य में प्रतिष्ठित अपने देवता की पूजा करके उसे विद्या प्रदान करे—

देवतामात्मनः शिष्ये संक्रान्तां देशिकोत्तमः ।

पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैरेक्यं सम्भावयस्तयोः ॥

वदयाद् विद्यां ततस्तस्मै विनीतायाम्बुपूर्वकम् ॥^{११}

विद्या प्राप्ति के बाद शिष्य देवता, गुरु एवं विद्या (मंत्र अथवा यत्किंचित्) में एकता का अनुभव करता हुआ गुरु को माण्डाङ्ग दण्डवत् करे और उनके युगल श्रीचरण-कमलों को अपने मस्तक पर धारण करते हुए तन-मन-धन सर्वस्व समर्पित कर दे—

गुरुविद्यादेवतानामैक्यं सम्भावयन् धिया ।

प्रणमेद्दण्डवद् भूमौ गुरुं तं देवतात्मकम् ॥

तस्य पादाम्बुजद्वन्द्वं निजमूर्ध्नि भोजयेत् ।

शरीरमर्थं प्राणञ्च सर्वं तस्मै निवेदयेत् ॥^{१२}

मानस-दीक्षा—

दीक्षा की दृष्टि से श्रीरामचरितमानस का मनन मंथन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें निम्नलिखित दीक्षा-प्रकारों का विधिवत् समावेश हुआ है—

क्र. सं.	दीक्षा	प्रकार	संख्या
१-	श्रीशिव के द्वारा पार्वती-दीक्षा ^{१३}	चरित	(१)
२-	श्रीकाकभुशुण्डि द्वारा गरुण-दीक्षा ^{१४}	चरित	
३-	श्री याज्ञवाल्क्य द्वारा भरत-दीक्षा ^{१५}	चरित	
४-	श्री गो० तुलसी दास द्वारा मानस रसिको की दीक्षा ^{१६}	चरित	

५-श्रीलोमश ऋषि द्वारा भुशुण्डि-दीक्षा^{१७} मंत्र (२)

६-श्रीशिव द्वारा लोमश ऋषि-दीक्षा^{१८} मूर्द्धन चरित

७-श्रीशिव द्वारा याज्ञवाल्क्य दीक्षा^{१९} चरित

८-श्रीगुरु द्वारा गो० तुलसीदास की दीक्षा^{२०} चरित

९-श्रीराम द्वारा हनुमन्त लाल की दीक्षा^{२१} भाव (३)

१०-श्रीराम द्वारा विश्वामित्र की दीक्षा^{२२} भक्ति (४)

११-श्रीराम द्वारा वशिष्ठ की दीक्षा^{२३} भक्ति

१२- „ „ परशुराम की दीक्षा^{२४} भक्ति

१३- „ „ नारद की दीक्षा^{२५} भक्ति

१४- „ „ सुमित्रा की दीक्षा^{२६} भक्ति

१५- „ „ कंकयी की दीक्षा^{२७} भक्ति

१६- „ „ अत्रि-अनुसूया की दीक्षा^{२८} भक्ति

१७- „ „ सुतीक्ष्ण की दीक्षा^{२९} भक्ति

१८- „ „ अगस्त्य की दीक्षा^{३०} भक्ति

१९- „ „ शबरी की दीक्षा^{३१} भक्ति

२०- „ „ अहल्या की दीक्षा^{३२} भक्ति

२१- „ „ भरत लाल की दीक्षा^{३३} पादुका (५)

२२- „ „ लखन लाल की दीक्षा^{३४} ज्ञान (६)

२३- „ „ कोशल्या अम्बा की दीक्षा^{३५} ज्ञान

२४- „ „ दशरथ जी की दीक्षा^{३६} ज्ञान

२५- „ „ मंदोदरी की दीक्षा^{३७} ज्ञान

२६-श्रीलक्ष्मण द्वारा निषादराज की दीक्षा^{३८} ज्ञान

२७-श्रीराम द्वारा सुमंत्र की दीक्षा^{३९} धर्म (७)

२८- „ „ जनक-परिवार एवं

ज्ञानकी की दीक्षा^{४०} सम्बन्ध (८)

२९- „ „ विभीषण की दीक्षा^{४१} राज्य (९)

३०- „ „ सुग्रीव की दीक्षा^{४२} राज्य कार्य (१०)

३१- „ „ अंगद की दीक्षा^{४३} वस्त्रालंकार (११)

३२- „ „ जटायु की दीक्षा^{४४} अतर्क (१२)

३३- „ „ जयंत की दीक्षा^{४५} दण्ड (१३)

३४- „ „ बालि की दीक्षा^{४६} दण्ड

३५- „ „ ताड़का की दीक्षा^{४७} दण्ड

३६- „ „ मारीच की दीक्षा^{४८} दण्ड

३७- „ „ सूर्यनखा की दीक्षा^{४९} दण्ड

३८- „ „ रावण-कुम्भकर्ण की दीक्षा^{५०} दण्ड

चरित-दीक्षा—

श्रीरामचरितमानस न केवल त्रिभुवनाचार्य शंकर द्वारा पार्वती की चरित-दीक्षा है, बल्कि शिव-स्वरूप

गो० तुलसीदास द्वारा उमा-रूप संशयग्रस्त जीवों की चरित-दीक्षा है, नहीं तो—

दुख दाह दारिद दंभ दूखन सुजस मिस अपहरत को ।
कलिकाल तुलसी से सठिन्ह हठि राम सन्मुख करन को ॥

मानस भक्तिप्रतिपाद्य काव्य है और भक्ति हृदय-प्रधान है, भावगम्य है, इसीलिए मानस में दीक्षा-विधान है; कर्मकाण्ड-प्रधान नहीं, भावप्रधान है।

सुख-दुःख, शांति-अशांति, मोह-ज्ञान का आश्रय है हृदय। मोह, भ्रम और संशय जब मस्तिष्क से उतर कर हृदय में प्रवेश करता है, तब मानव अशांत हो उठता है। दूसरी ओर जब ज्ञान, मस्तिष्क के धरातल से हृदय-प्रदेश में राग-संपुटित होकर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब मानव परम शान्ति का अनुभव करता है। संक्षेप में, मोह सभी दुखों का मूल है और ज्ञान शान्ति का।

रामचरितमानस की विशिष्टता यह है कि यह मात्र ज्ञान की मान्यता नहीं देता, प्रेम-भक्ति पुष्ट ज्ञान को प्रतिष्ठा देता है क्योंकि इसका आश्रय हृदय है। अतः मानस का संशय हो अथवा ज्ञान, दोनों का आधार मानस है। मानस की मूल समस्या संशय और मोह है और इसका मुख्य समाधान है भक्ति-परिपुष्ट ज्ञान। श्रीरामचरित के सादर श्रवण से मोहनाशपूर्वक श्रीराम का प्रेमपुष्ट ज्ञान मानस की चरित-दीक्षा है।

रामचरितमानस के चारों श्रोताओं के संशय-मोह-निवारण के लिये गुरु-स्वरूप चारों वक्ताओं को चरित-दीक्षा का अवलम्ब लेना पड़ा है, जिसके उपरान्त चारों श्रोताओं में दिव्यज्ञान के साथ-साथ चरित-नायक परात्पर ब्रह्म श्रीराम में अविचल विश्वास, अटूट श्रद्धा और अखण्ड आत्मीयता के लक्षण देखे जाते हैं।

१-दीक्षा-पूर्व पार्वती-

जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि विरह मति मोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥

दीक्षांत पार्वती-

नाथ कृपां मम गत संदेहा । रामचरन उपजेउ नव नेहा ॥
मैं कृतकृत्य भयउँ अब तब प्रसाद विस्वेस ।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस ॥

२-दीक्षा-पूर्व गरुड़-

मोहि मयउ अति मोह प्रभु बंधन रन महुँ निरखि ।
चिदानंद संदोह राम विकल कारन कवन ॥

दीक्षांत गरुड़-

गग्रउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित ।
मयउ रामपदनेह तब प्रसाद वायस तिलक ॥

३-दीक्षा-पूर्व भारद्वाज-

नाथ एक संसउ उड़ मोरें । करगत वेद तत्व सबु तोरें ॥
जैसे मिटे मोह भ्रम भारी । कहहु सो कथा नाथ विस्तारी ॥

दीक्षांत भारद्वाज--

बहु लालसा कया पर बाढ़ी ।
नयनन्हि नीर रोमावलि ढाढ़ी ॥
प्रेम विवस मुख आव न बानी ।
दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी ॥

४-दीक्षापूर्व तुलसी (एवं पाठक)-

किमि समुझौं मैं जीव जड़ कसि मल ग्रसित विमूढ़ ।
निज सदेह मोह भ्रम हरनी ।
करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥

दीक्षांत तुलसी--

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसी दास हूँ ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाही कहूँ ॥
इस प्रकार दीक्षा की दृष्टि से रामचरितमानस पर एक स्वतंत्र अध्ययन किया जा सकता है, जिसकी रूपरेखा मात्र यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

संदर्भ:-

- १- शारदा तिलक तंत्र, चतुर्थ पटल, श्लोक २ ।
 - २- शारदा०, ४।२ की टीका ।
 - ३- शारदा०, ४।१ की टीका; ४- वही ।
- (शेष सन्दर्भ पृ० ५५ पर देखें)

आदित्यों की यात्रा : भारत से अरब-इस्राईल तक

—डॉ० असहाब अली

वैदिक वाङ्मय में अनेक देवी-देवताओं एवं उनकी उपासना पद्धति का निरूपण है। इसे बहुदेववाद अथवा होनीथीज्म के रूप में जाना जाता है। आदित्य-गण भी एक ऐसे ही देव समूह की संज्ञा है। इस समुदाय के देवताओं की संज्ञा तथा नाम दोनों ही अत्यन्त विवादास्पद हैं। ऋग्वेद में केवल दो बार इनकी संख्या का उल्लेख है, जिनमें एक स्थान पर सात एवं दूसरे पर आठ है। सामान्यतः परवर्ती वैदिक साक्ष्यों में आठ आदित्यों की चर्चा है। शतपथ ब्राह्मण में ये बारह हैं।¹ जहाँ तक नाम का प्रश्न है, इसमें भी विविधता है। प्रायः मित्र, वरुण अर्यमन् इन तीन आदित्यों का ही उल्लेख है। पाँच आदित्यों की स्थिति में सविता एवं भग तथा छः की दशा में भग, दक्ष एवं अंश जुड़े हैं।² तैत्तिरीय ब्राह्मण³ में इनके नाम मित्र, वरुण, अर्यमन्, अंश, भग, धातृ, इन्द्र एवं विवस्वत् हैं। अतः स्पष्ट है कि प्रारम्भ में इनकी संख्या सात थी जो ऋग्वेदीय काल में ही आठ हो गयी तथा कालान्तर में बारह।

जागतिक व्यवस्था में गहरी रुचि लेना आदित्यों का धर्म है। ऋग्वेदीयजनों पर मित्र, वरुण तथा अर्यमन् ही विशेष कृपावान् प्रतीत होते हैं। जहाँ अन्य देवता विश्व की रक्षा करते हैं, इन पर सम्पूर्ण स्थावर-जगम के पोषण का भार है। ये मनुष्यों के हृदयों में निहित सभी पाप-पुण्यादि भावों को देखते हैं तथा सत्य एवं असत्य का विभेद करते हैं। मिथ्यावादियों से घृणा तथा उन्हें दण्डित करता इनका कार्य है। ये देव शत्रुओं के लिये पाशों को फैलाये रखते हैं⁴ परन्तु अपने उपासकों की उसी प्रकार रक्षा करते हैं जैसे पक्षी पर फैलाकर अपने बच्चों की। व्याधियों एवं विपत्तियों को भगाना तथा प्रकाश, दीर्घ-जीवन,

सन्तति, निर्देशन आदि विविध लाभकर वस्तुयें सुलभ करना⁵ इनकी विशेषता है। आदित्यों के लिये जो उपाधियाँ प्रयुक्त हैं वे शुचि, भूर्यक्ष, अस्वप्नज, दीर्घधी, क्षत्रिय, धृतव्रत, अनवद्य, अवृजिन, आदि हैं।

अवेस्ता, जो ईरानियों का पवित्र ग्रंथ है, उसमें भी एक देव-समुदाय की मान्यता है, जिसे अम्शास्पेन्ता कहा गया है। यहाँ भी इनकी संख्या सात ही है, जो हौरवतात (Haurvatat, अमेरेतात (Ameretat), वोहु मनो (Vohu-Mano), क्षथ्र वैर्य (Kshathra Vairya), अशा वहिस्त (Asha Vahista) एवं स्पेन्ता आरमेति (Spenta Armaiti) है।⁶ सातवाँ अम्शा स्पेन्ता स्वयं अहुर है, जो सबका स्वामी है।

अम्शास्पेन्ता के अधीन सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था का भार कल्पित है। लौकिक गुणों और नैतिक नियमों के जनक एवं नियामक भी यही हैं। जलवृष्टि के नियन्ता, ये इच्छा मात्र से जीवनोपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न कर देने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। स्तोताओं की सहायता, प्रसन्नता, सुख, आनन्दादि की प्राप्ति इन्हीं से होती है। एक वाणी, एक कार्य एवं एक विचार वाले सातों अम्शास्पेन्ता संसार के स्वामी हैं। महत्तम, उत्तम एवं शोभनतम 'अशा' के प्रशंसक तथा विधानों के कार्यान्वयन करने वाले ये ही हैं। अहुरमज्दा की इस सृष्टि की बनावट, आकार-प्रकार नियंत्रण निरीक्षण सुरक्षा एवं रख-रखाव सब कुछ इन्हीं पर आधारित है।⁷

यहूदियों में भी सप्त अम्शास्पेन्ता की भांति एक देवदूत समूह के होने का विश्वास है, जिन्हें प्रधान देवदूत (Arch angel) कहते हैं। इनकी भी

संख्या सात है जो गब्रैल (Gabrael), मिचैल (Michael), रफ़ैल (Raphael), यूरेल (Urael), मेटात्रान (Metatran), सैंदलफोन (Sandalphon) एवं रेदियाव (Rediyao) नाम से प्रसिद्ध हैं। जागतिक व्यवस्था का संचालन ही इनका भी कार्य है। स्वस्थमना प्राणी प्रसन्नतापूर्वक जीवन यापन करें, दुष्टजन अपने दुष्कर्मों का फल प्राप्त करें, तथा ऐसी ही दूसरी रीति-नीति की बातें इन्हीं से सम्बद्ध की गयी हैं। व्यक्ति को आरोग्यता प्रदान करने से लेकर धरती को शीतलता देने का महान् दायित्व इन्हीं पर है। ससार में व्यक्ति का जीवन पूर्ण हो जाने पर उसके प्राणों का हरण भी यही करते हैं।⁹

देवदूतों (मलाइका) के इस प्रकार के समुदाय से इस्लाम भी अपरिचित नहीं है, जिसकी संज्ञा 'क़रबीयून' है।¹⁰ इसका शाब्दिक अर्थ है, अल्लाह के निकटस्थ होना। ये पद एवं सम्मान में दूसरे देवदूतों से ऊपर हैं। इसमें केवल चार ही देवदूत सम्मिलित हैं; जिनके नाम हैं, जिब्रैल, मीकाईल, इसराफ़ील एवं ईजराईल। इन देवदूतों का कार्य क्षेत्र एवं कार्य करने की पद्धति भी वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। अल्लाह की सृष्टि में विभिन्न स्थानों पर ये सभी नियत हैं। अल्लाह के संदेश को अभिप्रेत स्थान अथवा व्यक्ति तक पहुँचाने का कार्य इन्हीं के अधीन है। शत्रुओं के विरुद्ध मुस्लिम की सहायता के लिए भी ये अनेक बार भेजे गये हैं। प्राणियों के जीविका का प्रबन्ध करना भी इन्हीं का कर्तव्य है। वे मुस्लिम अथवा मुस्लिमेतर सभी के रूह कब्ज करने पर नियत हैं। कयामत के दिन ये ही सांसारिक लोगों की 'शफ़ाअत' (मुक्ति) के लिये अल्लाह से प्रार्थना करेंगे।¹¹ अर्श (अल्लाह का सिंहासन) से तात्पर्य है ब्रह्माण्ड का दैवी नियन्त्रण। ये देवदूत अर्श को वहन करने वाले कहे गये हैं अर्थात् ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण नियन्त्रण इन्हीं के अधीन है।

इन समुदायों के अन्तर्गत आने वाले देवताओं अथवा देवदूतों की सामूहिक विशेषताओं की अपेक्षा वैयक्तिक विशेषतायें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ तक आदित्य गण के देवताओं के पृथक्-पृथक् गुणों एवं कार्यों का प्रश्न है, मित्रावरुण एवं इन्द्र के अतिरिक्त

सभी नगण्य हैं। वस्तुतः आदित्य मण्डल की जो कुछ भी विशेषतायें हैं, वे मित्रावरुण की ही हैं। अर्यमन् का यद्यपि ऋग्वेद में सी बार उल्लेख है, फिर भी इनके कार्यों पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसका प्रायः 'साथी' अर्थ में प्रयोग किया गया है। भग का ऋग्वेद में साठ बार उल्लेख 'प्रदान करने वाले' अर्थ में हुआ है किन्तु सम्पत्ति के वितरक के रूप में ही इनकी ख्याति है। अंश, दक्ष, धातृ इत्यादि का कर्तृत्व अनुल्लेख्य है। विवस्वत् का इन्द्र के साथ वर्षा से सम्बन्ध स्थापित किया गया है तथा कहा गया है कि विवस्वत् के दश (अंगुलियों) द्वारा इन्द्र द्युलोक से पानों के जल को नीचे गिराते हैं।¹² विवस्वत् मृत्यु (यम) से भी रक्षा करते हैं।¹³ वृष्टि के अतिरिक्त इन्द्र का प्रधान कार्य शत्रुओं (असुरों) का वध करके¹⁴ उनसे मानव एवं देवताओं को मुक्ति दिलाना है।

अम्शास्पेन्ता, प्रधान देवदूत एवं क़रबीयून के अन्तर्गत आने वाले देवदूतों के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्पष्ट उल्लेख है। जल एवं वनस्पति जगत् 'हौवरवतात' के अधीन है।¹⁵ ये पवित्रता के स्वामी तथा ऋतुओं, वर्षा, सुख-समृद्धि के देवता हैं।¹⁶ मानव को स्वस्थ एवं दीर्घायु रखने का कार्य 'अमेरेतात' का है। ये पशुओं के समूह के स्वामी, अनाज की बहुलता प्रदान करने वाले तथा शक्ति सम्पन्न हजोम (सोम) के देवता हैं।¹⁷ क्षय वैयं संभावत के देवदूत है, जिनके अधीन मेष, एवं विद्युत के अतिरिक्त विशेष रूप से धातुयें (Metals) आती हैं।¹⁸ अशा वहिंशत संसार के पवित्र विधान (अशा) को कार्यान्वित करते हैं। 'अरमैति' पृथ्वी का देवदूत है। वोहु मनो सम्पूर्ण प्राणि-जगत् की देखभाल करते हैं।¹⁹

सप्त प्रधान देवदूतों में से संरक्षक देवदूत (Jutelary angel) होने के कारण मिचेल का कार्य इस्राईली लोगों की रक्षा करना है। यही सांसारिक प्राणियों में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखते हैं। इसलिये इन्हें शान्ति का देवदूत (Prince of Peace) कहा जाता है। गब्रैल यहवा की शक्ति है। यह न्याय-व्यवस्था का स्वामी है जो प्राणियों को दण्डित करने से लेकर शत्रुओं के विरुद्ध इस्राईल के लोगों की सहायता करत

है। गूरल दिव्य प्रकाश का मूर्तिमान है। प्राणियों को व्याधि रहित बनाने तथा उन्हें अजर-अमर करने का कार्य रफैल के अधीन है। सेंदलफोन का संसार से उल्लेखनीय सम्बन्ध नहीं है। रेदियाव वर्षा का देवदूत है इसके अधीन आकाशीय एवं पार्थिव सभी प्रकार का जल समूह है।²⁰

कहवीयून में बहुचर्चित जिब्रईल का विशेष रूपसे कुरआन के अवतरण से सम्बन्ध है।²¹ शत्रुओं को दण्डित करने के सम्बन्ध में भी इनका उल्लेख है। ये रसूलों एवं मुलिम को शक्ति प्रदान करते हैं। मीकाईल का सम्पूर्ण जगत् पर नियन्त्रण है, जो सम्पूर्ण प्राकृतिक शक्तियों को नियमित करता है। सभी प्राणियों के जीवनोपयोगी सामग्रियों को उपलब्ध कराना और स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन का भी सम्बन्ध इसी से है।²² इसराफील का विशेष कार्य कयामत के दिन तुरही सूर) बजाना है।²³ इजराईल मृत्यु का देवदूत (मलकुल भीत) है।²⁴

अब प्रश्न है कि इन विभिन्न स्थानों में समान स्तर, कार्य एवं योग्यता वाले देवताओं अथवा देवदूतों के समूह की मान्यता के मूल में कौन सा बीज निहित है? यह सर्व विदित है कि भारतीय आर्य एवं ईरानी एक ही मूल से सम्बद्ध हैं। यही कारण है कि इनकी अधिकांश मान्यतायें एक सी हैं। वेद से अवेस्ता द्वारा ग्रहण किये जाने से भी कुछ मान्यताओं में समानता है। आदित्यों एवं अम्शास्पेन्ता की समानता के मूल में भी यही है। प्रथम सम्भावना इनके भारतेरानी अथवा उससे पूर्व काल के होने की तथा दूसरी सम्भावना वेद से अवेस्ता द्वारा ग्रहण किये जाने की हो सकती है। परवर्ती होने से अवेस्ता से वेद में इन मान्यताओं के स्थानान्तरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अवेस्ता में प्रमाणाभाव के कारण यह स्पष्ट है कि आदित्य नाम से भारतेरानी काल में किसी देवसमूह की मान्यता नहीं रही जिसमें वरुण, मित्र, अर्यमन् इत्यादि सात देवताओं की गणना की गयी हो। सम्भव है बिना किसी नाम का सप्तसंख्यक आकाशीय देवताओं के समूह की मान्यता प्राचीन हो। यदि ऐसा है तो निश्चय

ही ईरान में भी इस देव-समुदाय में वे ही देवता गिने जाते रहे होंगे, जिनका उल्लेख वेद में है, और जो अवेस्ता में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। यदि वेद से इनकी मान्यता को ली गयी होती तब भी वही बात होती। आज अम्शास्पेन्ता में जिन देवताओं की गणना है, उसमें कोई भी वैदिक देवता नहीं है, इसका कारण क्या है। सम्भवतः वैदिक आर्यों एवं ईरानियों का आपसी वैमनस्य ही इसका कारण है। वेद एवं अवेस्ता में अनेक परिवर्तन इसी से हुये। इसी वजह से अम्शास्पेन्ता के स्थान से वैदिक देवताओं को हटाकर ईरान में स्वतंत्र रूप से उद्भूत दूसरे देवताओं को प्रतिष्ठित किया गया। परन्तु साक्ष्याभाव में यह भी सम्भावना मात्र है। अतः हम यही कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती होने से वेद से ईरानियों ने सप्तसंख्यक आकाशीय देवताओं की मान्यता ग्रहण की जिसमें अपने सात आकाशीय देवताओं को समाहित किया। वेविलोनिया में भी सात आकाशीय देवताओं की मान्यता विद्यमान है। कुछ विद्वानों का कथन है कि अम्शास्पेन्ता की अवधारणा पर इन्हीं का प्रभाव है।²⁵ ग्रीसोल्ड²⁶ ने भी ओल्डेनवर्ग के इस आशय का उल्लेख किया है। परन्तु इसमें अधिक सत्यता नहीं है।

आवागमन मानव के सांस्कृतिक तत्त्वों को प्रभावित करते हैं। इससे सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों तथा आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचे में यथावसर परिवर्तन होता रहता है। अन्यत्र से आकर व्यक्ति जिस स्थान पर आबाद होता है, वहाँ की परिस्थितियों में अपने आप को ढालता है। इस प्रकार उसकी मान्यता, अनुष्ठान, धर्म यानी कि उसका सम्पूर्ण जीवन दर्शन प्रभावित होता है। बहुसंख्यकों की मान्यतायें अल्पसंख्यकों पर छाने लगती हैं। इसी प्रकार की बात यहूदियों के साथ भी घटित हुई। जब निर्वासन के समय वे ईरान में शरणार्थी थे। यह वह काल था जब पारसी धर्म अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। फलतः यहूदियों ने इनकी अनेक मान्यताओं को आत्मसात कर लिया। उनके प्रधान देवदूतों की मान्यता भी इसी प्रकार से ली गयी है। अतः इनकी मान्यता का आधार ईरान है।

इस्लामी कस्बीयून की अवधारणा यहूदी मिथकों पर आधारित है। ओल्ड टेस्टामेंट^{२७} काल से ही यहूदियों में चेरुबिम (Cherubim) नाम से देवदूतों के समूह की मान्यता थी, जो प्रधान देवदूतों से भिन्न है। प्रधान देवदूतों की मान्यता परा-निर्वासन काल (Post-exilic Period) की है। इस्लाम ने देवदूत समुदाय का नाम चेरुबिम [अरबी रूपान्तर कस्बीयून] ही रखा परन्तु उसमें प्रधान देवदूतों में से केवल उन चार राष्ट्रीय देवदूतों (National angels) को ही सम्मिलित किया जो सृष्टि कर्ता के सिंहासन के दायें, बायें, आगे और पीछे खड़े रहते हैं। इनके नाम हैं मिचैल, गब्रैल, रफैल और यूरैल। इस्लाम में किंचित् ध्वनि परिवर्तन कर इनका नाम मीकाईल, जिब्रईल, इसराफील एवं इजराईल रखा गया।

इस प्रकार आदित्यों की महायात्रा प्राक्वैदिक काल अथवा भारोपीय युग से प्रारम्भ हुयी सी जान पड़ती है। आदित्य-प्रधान वरुण के साथ दूसरे देवताओं के मिल जाने से इनकी संख्या सात अथवा आठ हुयी तथा आठवें आदित्य मार्तण्ड के आकाश में प्रक्षिप्त हो जाने से अवशिष्ट सातों भाइयों ने अपनी विदेश यात्रा प्रारम्भ की। इन्होंने पश्चिम दिशा का रुख किया और सर्वप्रथम निकटस्थ देश ईरान पहुँचे जहाँ सप्त अम्शास्पेन्ता के रूप में प्रतिष्ठित हुये। भारतीय वातावरण में इनमें जो कमियाँ रह गयी थीं, वहाँ उसमें सुधार कर लिया गया। भारत में मित्रावरुण ही सभी कार्यों के कर्त्ता-धर्ता थे तथा दूसरे नगण्य थे पर यहाँ सब को समान अवसर मिला। आदित्यों ने यहाँ लम्बी अवधि तक काल-यापन किया। सातवीं शताब्दी ई०पू० में नेबुकदनेजर द्वारा निर्वासित हो ईरान में शरण लेने वाले यहूदी इन पर अनुरक्त हो गये। अपने सत्तर वर्ष के निर्वासन काल की समाप्ति पर स्वदेश लौटते हुये वे इन्हें भी साथ लेते गये। उनके मिथकों में इनका अस्तित्व सात प्रधान देवदूतों के रूप में प्रकट हुआ। इस्राईल में ही इनकी यात्रा की इतिश्री नहीं हुयी अपितु लगभग तेरह सौ वर्ष के विश्राम के बाद इनके पाँव पुनः गतिशील हो उठे। इस बार इनका मंजिल-ए-मकसूद मक्का नगर था, जो तत्कालीन बहुदेववादी मूर्ति पूजकों का केन्द्र था। अनेक

प्रतिकूल गतिविधियों के बावजूद वे वहाँ कस्बीयून के रूप में प्रतिष्ठित हुए। सात संख्या में यात्रा प्रारम्भ करने वाले आदित्यगण हरे-भरे मैदानों, पठारों एवं पर्वतों को लांघते इस्राईल तक सकुशल पहुँचे थे। पर जब उनका प्रस्थान मक्का की ओर हुआ तो मंजिल तक केवल चार ही पहुँच पाये। अवशिष्ट तीन साथियों का पता नहीं वे वापस लौट गये अथवा अरब के रेगिस्तान में भटक गये। अपने यात्राकाल में इन्हें अनेक परिस्थितियों एवं देश-काल से गुजरना पड़ा, यही इनके नाम परिवर्तन का रहस्य है।

भविष्य में आदित्यों की यात्रा पुनः प्रारम्भ होती है अथवा नहीं, इसे कैसे कहा जाय। इस्लामी अवधारणा के अनुसार धर्मों की शृंखला में इस्लाम अन्तिम धर्म है और हजरत मुहम्मद अन्तिम रसूल। अतः इस्लाम के मत में अब इनकी यात्रा समाप्त हो गयी। लगता है कि आदित्यों को यहाँ की आबो-हवा अच्छी लगने लगी है और इन्होंने यहाँ स्थायी विश्राम का निश्चय कर लिया है। भविष्य में यदि इन्होंने अपनी यात्रा सम्पन्न की तो समसामयिक अथवा उत्तरकालीन लोगों पर फर्ज आयद होता है कि वे उनके यात्रा-वृत्तान्त को कलमबन्द करें।

सन्दर्भ :-

- १-ऋग्वेद, ६.११४.३ तथा १०.७०.८।
- २-शतपथ ब्राह्मण, ६.१.२.८ तथा ११.६.३.८।
- ३-ऋग्वेद, १.४१.१, ७; ७.५२.१; ६२.२.६; ६३.६.७; ८.१८.३; २.२७.१।
- ४-तैत्तिरीय ब्राह्मण, १.१.६.१।
- ५-ऋग्वेद, २.२७.३, ४; ८.१८.१५; २.२७.४; ७.५२.२; २.२७.१६।
- ६-वही, ८.४७.२; ८.१८.१०; ८.१८.२२; ५६.१५.२०।
- ७-दि जेन्द अवेस्ता, भाग २ (सेबुई) सिरोजह्, १.२-७, यस्त II, १.१-५, १२.२३।
- ८ वही, ४.१, १२.२३, १२.३४, १६.३।
- ९-डी०ए०मेकेंजी : मिथ एण्ड लीजेण्ड आफ ऐनशेण्ट इजराईल, अध्याय ५।
- १०-टी.पी. हुडस : डिक्शनरी आफ इस्लाम, पृ० १५।
- ११-कुरआन, ३.३८; ३.४१, ४४, १२४; ८.१२; १४.६७; १६.२८, ३२; ५३.२७।

१२-ऋग्वेद, न.६१.८, तुलना कीजिए ५.५३.६ ।

१३-अथर्ववेद, १८.३.६२ ।

१४-ऋग्वेद, १.१३०.८; ३.३४.६; ४.२४.३; ६.१८.३ ।

१५-दि जेन्द-अवेस्ता भाग १ (सेबुई) इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७२

१६-वही, भाग २, सिरोजह्, १.६, यस्त II, १.३ ।

१७-वही, भाग २, सिरोजह्, १.७, यस्त II, १.३ ।

१८-वही, सिरोजह्, १.४, यस्त II, १.२ ।

१९-वही, भाग १, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७२ ।

२०-डी०ए० मेकेंजी : मिथ एण्ड लीजेण्ड आफ ऐन्शेण्ट इजराईल, अध्याय ५ ।

२१-कुरआन, २.७६, २६.१६३, १६४ ।

२२-वही, २.८७, ५५.२२, २.६८ ।

२३-टी०पी० हुईस: वही, पृ० २२१ ।

२४-कुरआन, ३२.११ ।

२५-डी०ए० मेकेंजी; मिथ एण्ड लीजेण्ड आफ ऐन्शेण्ट इजराईल, अध्याय ५ ।

२६-ग्रीसोल्ड : दि रिलिजन आफ दि ऋग्वेद, पृ० १४७, १४८ ।

२७-ओल्ड टेस्टामेंट : जेनेसिस, ३.२४, इक्सोडस, २६. १, ३१; ३६.८, ३५ ।

(पृ० ५० के सन्दर्भ का शेष अंश)

५- शारदा०, पटल ४-५ ।

६- वाचनिका सिद्धान्त संख्या ११५ ।

७- वही, सं० १२०; ८- वही, सं० १०४ ।

९- शारदा०, ५।७७; १०-वही, ५।६६ ।

११-वही, ५।११०-११; १२-वही, ५।११२-१३ ।

१३-रामचरितमानस, बा. ३०।३, ३५।६-१२, १०७।६-११, १२० ख, उत्तर. ५२।१-६, ५२ क-ख, १२६ ।

७-८, १२६ ।

१४-मानस, उत्तर० ६३ से ६८ ।

१५-मानस, बा० ४५।४-४७, १०४-१०५।३, १२४, १२७, १५२, १७५ ।

१६ बा०मं० ७, बा० २।२, ८।५-६, १२।१०, १२ से १४८, ३० ख, ३१-३५, ३८।१-६, ३६१ छंद, अयो० ३२६।छंद, अरण्य ४६, कि० ३०, सु० ६०। छंद, १२१।छंद, उत्तर १३०।३-८, १३० श्लोक ।

१७-मानस, उत्तर० ११० से ११४।६, ११३।६, से १०, बा० ३०।४ ।

१८-मानस, उत्तर० ११३।११ ।

१९-मानस, बा० ३०।५

२०-मानस, बा० ३० क-ख, ३०।१-२, ३६।१ ।

२१-मानस, कि० ३-४।१, २३।६-१२, सु० १७।२-६, ३२, ३३।१-६, सु० ३४।१-२, लं० १०७ ।

२२-मानस, बा० २०६।७-८, २०६ । १-८, २०६ ।

२३-मानस, उ० ४८-४९ ।

२४-मानस, बा० २६६।७-८, २८५।१-७ ।

२५-मानस, अरण्य ४२ ।

२६-मानस, बा० ७३; ७४ से ७५ छंद ।

२७-मानस, अयो० १५।४-८, २७।३।३१६, उ० ६, १०। १-२ ।

२८, २९-मानस, अरण्य ४-५। १०-११ ।

३०, ३१-मानस, अरण्य १२-१३; ३४-३५।७ ।

३२-मानस, बा० २१०-२११ छंद ।

३३-मानस, अयो० २८६।१ से ३०१।४ ३०७।३-८, ३१६। २-८ ।

३४-मानस, अयो० ७१-७२, अरण्य० १४ से १६, १७। १-२, कि० १३-१७ ।

३५-मानस, बा० १६२।छंद, २०१, २०२, ३५७।६ ।

३६, ३७-मानस, लं० ११२ १-५; १४।८ से १५ ।

३८, ३९-मानस, अयो० ६२।३ से ६४।१; ६५।२-८ ।

४०-मानस, बा० २१६।२-५, २२६-२३६, २४१।२-७, २५७।४-२१६, २६४।३-८, ३२४ से ३२५, २६।छंद७-१०

४१-मानस, सु० ४५-४६ ।

४२-मानस, कि० ५-८, ११।७-१२।७, १८ से २३।८, सु० २८ से ३० तक ।

४३-मानस, उ० १८ ।

४४, ४५-मानस, अरण्य० ३१।४-३३।१; २

४६-मानस, कि० ६-१० ।

४७-मानस, बा० २०६।५-६ ।

४८-मानस, बा० २१०।३-४, अरण्य० २५ से २७ ।

४९-मानस, अरण्य० १७ से २२ ।

५०-मानस, लं० १०२, १०३।६ से ११, १०४। छंद, १०४ ।

दसवीं सदी में स्पेन में शिक्षा का स्तर

—डॉ० के० रस्तोगी

प्राचीन काल में स्पेन (वर्तमान पुर्तगाल सहित) विश्व का एक विशाल देश गिना जाता था जिस पर कई शताब्दियों तक रोमन शासन स्थापित रहा। रोमन राज्य की अधीनता के पूर्व यहाँ गाथिक जाति के लोग शासन करते थे लेकिन चौथी शताब्दी तक अधिकतर स्पेनियों ने ईसाई धर्म स्वीकृत कर लिया था फिर भी यहाँ यहूदियों की बड़ी संख्या विभिन्न प्रदेशों में अपने सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने में व्यस्त थी। इस प्रकार स्पेन में सातवीं शताब्दी में अरबों से प्रवेश के पूर्व यहाँ उन्हीं दो धर्मों के मानने वाले पाये जाते थे। ईसाई एवं यहूदियों के मध्य कभी भी मित्रता की भावना उत्पन्न न हो सकी। जिसका कारण यह था कि स्पेन पर नियुक्त होने वाले शासकों को पादरियों के सम्मुख यह सपथ लेनी पड़ती थी कि वे यहूदियों को इस देश से बिल्कुल निकाल देंगे। इससे अनुमान होता है कि स्पेनी शासन पर धर्म का अधिक प्रभाव था तथा ऐतिहासिक सूत्रों से यह भी अवगत होता है कि जिस समय अरबों ने स्पेन में प्रवेश किया वहाँ शासक वर्ग एवं धार्मिक सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद था और दोनों ही जनता में अपने अपने प्रभाव को बढ़ाने तथा एक दूसरे के विरुद्ध अपने को अधिक शक्तिशाली बनाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। इसफैलस्वरूप स्पेन की शासन व्यवस्था अधिक विगड़ गई थी कि यहाँ की प्रजा किसी बाह्य आक्रमण की प्रतीक्षा कर रही थी।

ऐसी स्थिति में अरबों ने स्पेन पर आक्रमण करने की योजना बनायी और ७११ ई० में अफ्रीका के गवर्नर मूसा-बिन-मुसैस ने अपने एक दास तारिक की अधीनता

लगभग बारह सौ सैनिकों को स्पेन की भूमि पर उतारा जो आज उसी के नाम से जिब्राल्टर शहर के रूप में प्रसिद्ध है, जिसे अरब इतिहासकार जबले तारिक कहते हैं। इस सेना ने अनेक नगरों पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त करने के पश्चात् एक ऐसे शासन की स्थापना की जो कई शताब्दियों तक स्पेन पर राज्य करता रहा तथा विज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में इतना प्रतिभाशाली योगदान भी दिया जिसे आज तक यूरोप की दुनिया भूल नहीं सकी। यह शासन उम्मैय्या वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें अनेक प्रशंसनीय शासक हुए। उन्हीं में से अल-हकम या हकम-शानी (द्वितीय) नामक एक विद्वान् प्रसिद्ध शासन हुआ। जिसके काल में विज्ञान, कला एवं साहित्य आदि का चरम विकास हुआ।

दसवीं शताब्दी में उम्मैय्या साम्राज्य का महानतम खलीफा अब्दुल-रहमान-अल-नासिद (२, सन् ६१२ में गद्दी पर बैठा। प्रशासन संतुलने ही खलीफा को आन्तरिक एवं बाह्य विद्रोहों का सामना करना पड़ा, अन्त में अधिक कठिनाइयों के पश्चात् विजय श्री ने उसका वरण किया। पचास वर्ष तक शासन करके अब्दुल-रहमान द्वितीय ने एक विशाल सुदृढ़ एवं समृद्ध साम्राज्य की स्थापना की जिसे इतिहासकारों ने उमवी-काल का स्वर्ण युग कहा है।

६१३ ई० में इस महानतम खलीफा के यहाँ एक पुत्र ने जन्म लिया जिसका नाम अलहकम रखा गया। यह शहजादा बाल्यकाल से स्वभावतः विद्या प्रेमी था। विद्या के प्रति इस प्रकार की बलवती उत्कण्ठा अपने बेटे में देखकर अब्दुल-रहमान प्रभावित हुआ। इसलिख खलीफ

ने अपने बेटे हकम के ज्ञानार्जन हेतु अबू-अली-काली जैसे अनेक विद्वानों को नियुक्त किया। दिन प्रतिदिन विद्या के प्रति हकम की बढ़ती हुई रुचि का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने पिता द्वारा संस्थापित पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकों का अध्ययन कर लिया। यही कारण है कि हकम के विद्या व्यसन के फलस्वरूप इतिहासकारों ने उसे 'पुस्तकीय-कीट' की संज्ञा प्रदान कर दी¹। ज्ञानार्जन एवं पुस्तक एकत्रीकरण की प्रबल प्रवृत्ति के कारण जब खलीफा हकम ६६१ ई. में अपने पिता को मृत्यु के अनन्तर गद्दी पर बैठा, तो उसने राज्य का अधिकांश कार्यभार जफर-अबू-अली को सौंप दिया।

खलीफा हकम प्रशासन के कार्यों के पश्चात् जब समय मिलता तो विद्वानों की पुस्तकों पर टिप्पणी लेखन के साथ, लेखक का नाम, वंश आदि आवश्यक बातें भी लिख दिया करता था। वह समय-समय पर गम्भीर मसलों पर विद्वानों से विचार विमर्श भी किया करता था। इसके अतिरिक्त खलीफा हकम ने राजकोष द्वारा एक अच्छी व्यवस्था (भोजन आवास आदि) करवाकर संसार भर के विद्वानों को स्पेन आकर बसने के लिये प्रोत्साहित किया।²

विद्या के प्रति इतने तीव्र आकर्षण को देखकर विदेशी विद्वान भी पुरस्कार प्राप्ति की अभिलाषा से अपनी लिखित पुस्तकें सर्वप्रथम हकम के पास भेजते थे। हकम की यह घोषणा थी कि जो लेखक अपनी नवीनतम पुस्तक की प्रतिलिपि उसके सम्मुख प्रस्तुत करेगा उसे भारी पुरस्कार प्रदान किया जायगा। यही मुख्य कारण था कि उसके काल में फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, यूनानी आदि अन्य भाषाओं में लिखी पुस्तकों का अनुवाद अरबी भाषा में सभी कालों से अधिक हुआ।³

खलीफा हकम अच्छी पुस्तकों के लिए कम से कम हजार दीनार पुरस्कार के रूप में देता था।⁴ जिस पुस्तक का मूल्य सर्वाधिक प्रदान किया गया था वह अब्दुल-फर्ज-अल-असबहानी की पुस्तक 'किताबुल-अगानी' थी। इस पुस्तक में संगीत एवं अरब के विख्यात कवियों का जीवन परिचय वर्णित है जिसमें पांच हजार पन्ने हैं।

अल हकम के लिये लिखित पुस्तकों की सूची में मोहम्मद बिन-युमुफ-अल-बरिक द्वारा लिखित पुस्तक भी अंकित है जिसमें अफ्रीका के व्यापारिक मार्गों तथा अन्य देशों के विवरण के साथ राज्यों एवं उनके पारस्परिक युद्धों का विस्तृत विवेचन है। इसके साथ ही हकम विद्वानों को प्रोत्साहित करके ज्ञान के क्षेत्र में नवीन ग्रन्थों का सृजन कराने में भी व्यस्त था जिससे भावी पीढ़ी पूर्ववर्ती अर्जित ज्ञान से लाभान्वित हो सके।

अल हकम पुस्तकों को एशिया व यूरोप महाद्वीपों के बड़े देशों की राजधानियों में अपने योग्य एवं विद्वान् कर्मचारियों को भेजा करता था। श्रेष्ठ पुस्तकों को खरीदने हेतु अधिक धन देकर पुस्तक संचय करने का कार्य उसके पन्द्रह वर्षीय शासन काल में निरन्तर चलता रहा तथा जिन पुस्तकों का क्रय नहीं किया जा सकता था उन पुस्तकों की नकल करवा लिया करता था। इसीलिए हकम का पुस्तकालय एशिया व यूरोप में सर्वाधिक विशाल पुस्तकालय था जिसमें अनेकानेक विषयों की चार लाख से अधिक पुस्तकों का संचयन था।⁵ इन पुस्तकों का सूची पत्र ४४ खण्डों में विभक्त था तथा प्रत्येक खण्ड में पचास पन्ने थे। पुस्तकालय की देखभाल के लिये उसका छोटा भाई अब्दुल्ला-हाजिब नियुक्त था। यह राजकीय पुस्तकालय राज-प्रासाद से अपने सौन्दर्य एवं विशालता में किसी भी भाँति कम नहीं था। पुस्तकालय के निमित्त किसी नवीन भवन का निर्माण नहीं किया गया था अपितु सम्पूर्ण पुस्तकों को "कसरे-मरवान" नामक महल में रखवा दिया गया था।⁶ इस महल की सौन्दर्य वृद्धि हेतु इसके फर्श को बहुमूल्य संगमरमर के पत्थर से निर्मित किया गया था एवं दीवारों तथा छतों को रुखाम के पत्थरों से सज्जित किया गया। दीवारों पर लाल एवं हरे पत्थरों से सजाने के लिये महीन बेल-बूटे बनाये गये थे तथा सुनहरे अक्षरों से विद्वानों के सुभाषित भी अंकित किये गये थे। पुस्तकों को देखने के लिये बहुमूल्य लकड़ियों के द्वारा अलमारियों का निर्माण कराया गया था जिनमें कुछ लकड़ियाँ चन्दन के समान सुगन्ध वाली थी। प्रत्येक अलमारी पर स्वर्ण-निर्मित नकाशीदार तस्वियाँ लगी रहती थीं जिनमें अलमारी के

भीतर रखी हुई पुस्तकों का विषय अंकित रहता था। पुस्तकालय में एक ऐसे शांति पूर्ण स्थान का निर्माण किया गया था जिसमें मात्र कातिब लेखक बैठकर पुस्तकों की रचना किया करते थे⁷। पुस्तकालय में एक विभाग ऐसा था जहां जिल्दसाज बैठकर पुस्तकों को सजिल्द करने व मरम्मत करने का कार्य किया करते थे तथा मूल्यवान पुस्तकों को स्वर्ण निर्मित जिल्द से सुशोभित करते थे। जिन पर इतने सुन्दर वेल-बूटे निर्मित किये गये थे कि पुस्तकों के विषय से अनभिज्ञ मुग्ध दर्शक अनेक बार देखकर भी तृप्ति लाभ नहीं कर पाता था। इनका निर्माण इतना परिश्रम एवं तल्लीनता से किया गया था कि आज भी यह अद्वितीय है⁸। खलीफा के विद्या-प्रेम तथा विशाल पुस्तकालय की स्थापना से प्रोत्साहित होकर स्पेन का प्रत्येक शिक्षित व धनी नागरिक पुस्तकालय स्थापित करने में विशेष रुचि लेने लगा था। यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गयी थी कि इस काल में पुस्तकालय का होना ही किसी व्यक्ति के धनी होने का प्रतीक था।⁹ कुछ सम्पन्न व्यक्ति इस कोटि के भी थे जो शिक्षित न होने पर भी इस बात पर गर्व करते थे कि उनके पास पुस्तकों का एक अच्छा सचय है। इस प्रसंग में एक विख्यात कथा इस प्रकार मिलती है :- खुजरमी नामक एक विद्वान् कुर्तवा में ठहरा हुआ था, उसे एक ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता हुई जिसकी खोज में प्रतिदिन विभिन्न व्यापारिक पुस्तक केन्द्रों में जाया करता था। अन्त में एक दिन वह पुस्तक उसके हाथ लग ही गयी जो वेल-बूटों की सजावट के साथ-साथ अत्यन्त सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। खुजरमी साहब ने उस पुस्तक का मूल्य आंका तो कुर्तवा निवासी एक अन्य उस पुस्तक का मूल्य उससे अधिक लगाता चला गया। परिणामतः इस प्रतिस्पर्धा में उस पुस्तक का मूल्य वास्तविक मूल्य से काफी अधिक बढ़ गया। इस खुजरमी ने रईसों जैसे वस्त्र पहने हुये उस व्यक्ति से कहा कि यदि आपको इस पुस्तक की इतनी अधिक आवश्यकता है तो आप ही खरीद लें। इस पर उस रईस व्यक्ति ने कहा कि इस पुस्तक में क्या लिखा है, इस तथ्य से मैं बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ लेकिन फिर भी मैं यह चाहता हूँ कि मेरा

अच्छा पुस्तकालय विशेष पुस्तकों के द्वारा और अधिक विशाल एवं सम्पन्न हो जाय। यह पुस्तक सुन्दर अक्षरों में लिखी होने के साथ-साथ सुन्दर जिल्द से सजी हुई है अतएव उसके मूल्य की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है।¹⁰ इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पेन की राजधानी कुर्तवा में पुस्तकों के प्रति किन्ना अधिक प्रेम एवं सम्मान था। प्रायः लोग संसार भर में अनुपलब्ध पुस्तकों को ढूँढ़ने के लिये इस नगर में आया करते थे। हकम के पास एक-एक विषय की अगणित पुस्तकों का भण्डार था जिसकी समकक्षता पूर्ववर्ती एवं परवर्ती कोई भी खलीफा करने में सक्षम नहीं हो सका। कुर्तवा नगर के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार की पुस्तकों के खरीदने व बेचने हेतु एक बहुत बड़े बाजार की स्थापना खलीफा हकम ने की थी।

राज्य में विद्या-अध्ययन करने वाले विद्वानों एवं विद्या-प्रेमियों के प्रति हकम का व्यवहार इतना उदार था कि उन्हें युद्धस्थल जाने की आवश्यकता से छूट मिल गयी थी। जो इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है :-

तलीतला निवासी एक नवयुवक की विद्वत्ता एवं उमवी राजवंश के शासकों से संबंधित लेखों एवं रचनाओं की प्रशंसा सुनकर खलीफा हकम ने सेनापति से उसको युद्ध में भाग न लेने की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में आदेश दिया। विद्या-विषयक कार्यों को सम्पन्न करने हेतु अब्दुल्ला-बिन-मोहम्मद नामक इस नवयुवक को सैनिक कार्यों से मुक्त करना ही खलीफा हकम के महान् विद्या प्रेम का उदाहरण है।

हकम ने प्रजा में विद्या अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक गांव और शहर में अनेक विद्यालयों की स्थापना जिसमें कोई भी व्यक्ति हर प्रकार की शिक्षा सरलता से ले सकता था। कुर्तवा में विश्वविद्यालय एवं पाठशालाएँ इतनी अधिक स्थापित थीं कि इतिहासकारों का मत है कि प्रत्येक मस्जिद के साथ एक पाठशाला के अतिरिक्त अन्य और भी ऐसी पाठशालाएँ थीं जहाँ निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी तथा उनके आवास एवं भोजन की व्यवस्था भी राजकोष से की

जाती थी। विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने के लिए छात्र-वृत्ति प्रदान की जाती थी। अध्ययन की पर्याप्त सुविधा एवं शिक्षा के अनुकूल वातावरण होने के कारण सभी नागरिक अपने बच्चों को पाठशालाओं तथा विद्यालयों में अध्ययन हेतु भेजने लगे थे। विद्यालयों में समता का वातावरण होने के कारण विद्यार्थियों में धनी व निर्धन या ऊँच-नीच की भावना नहीं पनप पाती थी। योग्यता के अनुसार अध्यापकों की नियुक्ति उच्च वेतन पर की जाती थी¹²। यही कारण है कि तत्कालीन विश्व के उच्चकोटि के विद्वान् अध्यापन हेतु स्पेन में आकर निवास करने लगे थे। कुछ महत्वपूर्ण विषयों की शिक्षा विशेष प्रकार से प्रदान की जाती थी, यथा-ज्यूरिस फ्रुडेंस, मेडिसिन, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र व वाणिज्य आदि¹³। स्पेन की शिक्षा विषयक उन्नति देखकर अन्य देशों के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्ति हेतु वहाँ आया करते थे। स्पेन जिन प्रसिद्ध विद्वानों के लिये विख्यात था उनमें से प्रमुख ये हैं :- अबू-अली-काली, इब्न-अल-तिया, अबू-उकर-अल-जुवैदी, अबू-अब-अल-अजरक, इरन-अब्द-रब्बेद, अब्दुल-फर्ज-अल-असपहानो, आदि। इन श्रेष्ठ विद्वानों में अहमद-विन-सईद-अल-हमदानी नामक विश्वप्रसिद्ध इतिहासकार भी था जिसे खलीफा ने एक सुन्दर भवन निर्मित करवाकर मदीना जाहिरा में दिया था। इसी भवन में रहकर उसने 'तारिख-स्पेन' नामक इतिहास की एक प्रसिद्ध पुस्तक की रचना की थी¹⁴।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि अलहकम का शासन-काल ज्ञान और शिक्षा के संदर्भ में अपने समस्त पूर्ववर्ती शासकों से कहीं श्रेष्ठ था। विद्वानों को जो आदर एवं प्रोत्साहन इस काल में मिला उसी के फलस्वरूप स्पेन की आम जनता सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत हो

सकी। विदेशी विद्वानों तथा विदेशी पुस्तकों का तत्कालीन स्पेन में सर्वद्व स्वागत किया गया जिससे स्पेन की जनता का ज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हो सका तथा उसके बहुमुखी विकास में योगदान प्राप्त हो सका। हम ने जिस प्रकार लेखकों को प्रोत्साहित करके ज्ञान के क्षेत्र में नये-नये ग्रन्थों का सृजन करवाया उसका दूसरा उदाहरण स्पेन के इतिहास में नहीं मिलता। ज्ञान-पिपासु, हकम का इस सम्पूर्ण कार्यो के पीछे एकमात्र उद्देश्य स्वान्तः सुखाय के साथ मानव-समाज का कल्याण करना था।

संदर्भ :-

- १ अखबारल अन्दुलुस, I : पृ० ६७६।
- २ एस०पी०स्काट, I : ६७६, जे०ए० कोण्डे १८६, डोजी II : ८१।
- ३ इब्रतनामये अन्दुलुस, II : ८७।
- ४ के० जमील अहमद, १८३ (लाहौर १८५६)।
- ५ जे०ए० कोण्डे, III : १८६।
- ६ जौहल इस्लाम, अहमद अमीन, III : २४ (काहिरा, १९३६)।
- ७ दि मूरिस इन स्पेन, पृ० १५५।
- ८ हिस्ट्री ऑफ द अरब्स, (लन्दन १९५८)।
- ९ दीलते हस्पानिया अरब, III : १८५।
- १० अल फेहरिस्त, इन्म नदीम, १६७ (मिस्र १३४८ हिजरी)।
- ११ मकरी, ४०४।
- १२ नफह-अल-तीब : २५२-२५३।
- १३ जे०एन० कोण्डे, III : १८७।
- १४ हिस्ट्री ऑफ दि अरब्स, ५३० (लण्डन, १९५८)।

फैजाबाद-अयोध्या नगर के सन्दर्भ में नगरीय यातायात का भौगोलिक अध्ययन

—श्री गणेश कुमार पाठक

फैजाबाद-अयोध्या सम्मिलित नगर $26^{\circ}47'$ उत्तरी अक्षांश से $26^{\circ}45'$ उत्तरी अक्षांश एवं $82^{\circ}10'$ पूर्वी देशान्तर से $82^{\circ}13'$ पूर्वी देशान्तर के बीच सरयू [घाघरा] नदी के दाहिने तट पर स्थित है, जिसका क्षेत्रफल 31.50 वर्ग किलोमीटर एवं समुद्र तल से औसत ऊँचाई 105 मीटर है।

फैजाबाद-अयोध्या के प्राचीन एवं मध्यकालीन स्वरूप के कारण यातायात का स्वरूप भी अव्यवस्थित है। वर्तमान समय में बढ़ती हुई जन संख्या एवं नगर विकास के कारण यातायात की समस्या की जटिलता और भी बढ़ती जा रही है। यातायात के साधनों का आर्थिक कार्य-कलापों की स्थिति एवं वितरण में सर्व प्रथम स्थान है। इसलिये यह आवश्यक हो गया है कि नगर के यातायात-स्वरूप का वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करके उसे विकास की दिशा प्रदान की जाय।

यातायात साधन एवं सड़क जाल का विकास
फैजाबाद-अयोध्या में यातायात-साधनों एवं सड़क-जाल के विकास-क्रम को निम्न अवस्थाओं में बांटा जा सकता है —

(क) प्राचीन काल (9030 ई० तक)

प्राचीन कालीन यातायात साधनों का पता केवल ग्रन्थों में वर्णित यात्राओं से चलता है। वाल्मीकि

रामायण में विशेष रूप से इसका वर्णन मिलता है। मुख्य यातायात साधन पशु थे जिनका विभिन्न रूपों में सुविधानुसार प्रयोग किया जाता था। प्राचीनकाल में अयोध्या नगरी का विकास एक महानगरी के रूप में हुआ था, अतः सड़कों का समुचित विकास हुआ था तथा सुविभक्त एवं सुविन्यस्त चार राजमार्ग भी थे,² जो प्रयाग, काशी, लक्ष्मणपुर (लखनऊ) एवं श्रावस्ती को जाते थे।³ इन मार्गों के अवशेष आज भी प्राप्त हैं, जिनका अनुकरण कर वर्तमान सड़कें बनायी गयी हैं।

(ख) मध्यकाल ($9030-9773$ ई० तक)

इस समय भी यातायात के मुख्य साधन पशु ही थे जिसकी पुष्टि युद्धों में प्राप्त वर्णनों से होता है। इस समय सड़कों का विकास वर्तमान फैजाबाद नगर के उत्तरी भाग में अधिक हुआ, क्योंकि फैजाबाद का विकास मुगल शासकों द्वारा इसी क्षेत्र से प्रारम्भ हुआ था। अयोध्या-फैजाबाद को जोड़ने के लिये सरयू के समानान्तर किनारे-किनारे एक सड़क का विकास हुआ, जिसका अवशेष अब भी प्राप्त है। इसी के समानान्तर अन्य सड़कों का भी विकास हुआ। मुजाऊद्दौला द्वारा सन् 1765 में फैजाबाद चौक का निर्माण होने के बाद वहाँ से विभिन्न दिशाओं में सड़कों का विकास हुआ, लेकिन अधिकांश सड़कें कच्ची एवं कंकड़ की ही थीं।

(ग) ब्रिटिश-काल ($9773-9847$ ई० तक)

इस समय पुराने साधनों को प्रयोग करते हुये नये साधनों

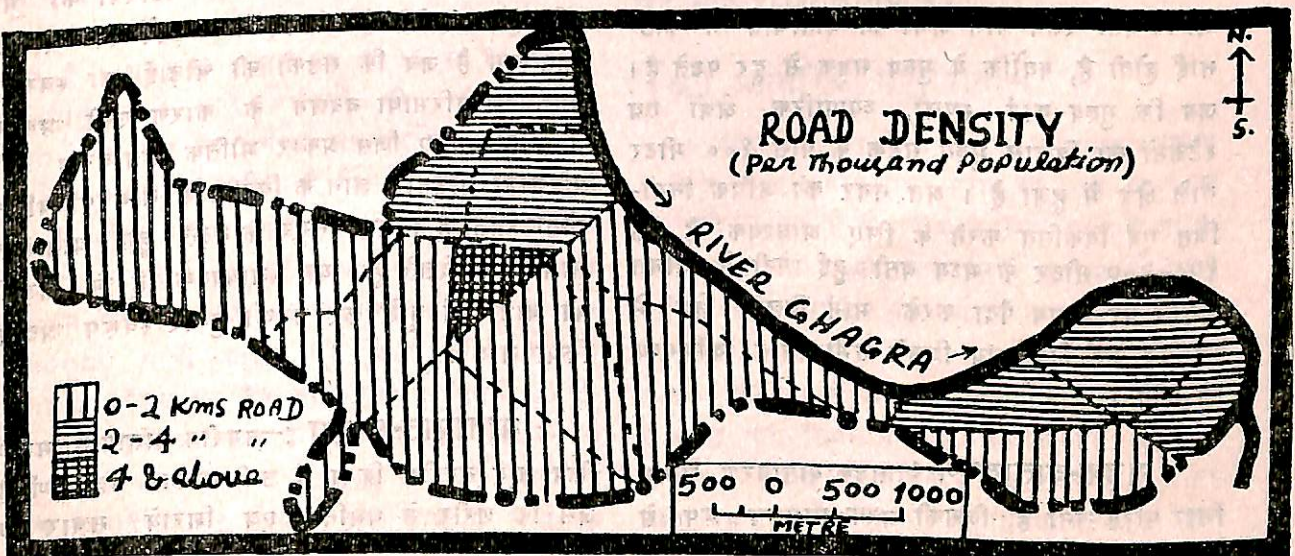
का तेजी से विकास हुआ। १८ वीं शदी के बाद इक्का, तांगा के साथ-साथ सायकिल एवं रिक्शा का भी प्रयोग होने लगा। सन् १९०० ई० के प्रारम्भ में इक्का, तांगा की पंजीकृत संख्या क्रमशः ३०५ एवं ४२ थी।^{१४} स्वचालित साधनों में केवल दो पीकप्स एवं एक जीप थी।^{१५} वर्ष १८७२ ई० में मुगलसराय लखनऊ रेल मार्ग की स्थापना हुई। बाद में इलाहाबाद के लिए भी रेल मार्ग का निर्माण हुआ। ब्रिटिश काल के अन्त तक स्वचालित साधनों की संख्या अधिक हो गयी थी, लेकिन इसका लिखित प्रमाण नहीं प्राप्त है। इस समय सड़क-जाल का विकास सबसे अधिक हुआ है। इसी समय फंजाबाद-इलाहाबाद एवं फंजाबाद लखनऊ मार्ग का निर्माण हुआ। नगर के आन्तरिक भागों में भी सड़कों का विकास हुआ।

(घ) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद

(१९४७ से अब तक) :—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यातायात साधनों का अधिक विकास हुआ। वर्ष १९५७-५८ में रिक्शों एवं सायकिलों की संख्या क्रमशः १००० एवं १२००० (केवल ६६४ पंजीकृत) थी। जब कि वर्ष १९७६-७७ में यह संख्या क्रमशः २२३८ एवं १४५६६ (पंजीकृत) हो गयी।^{१६} इस प्रकार बीस वर्ष की अवधि में रिक्शों की संख्या में १२३ तथा साइकिलों की संख्या में १४६६.०० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इसी अवधि में स्वचालित

गाड़ियों की पंजीकृत संख्या २६६६ प्राप्त होती है।^{१७} इस समय सड़कों के विकास की गति धीमी रही है। मुख्य सड़कों का ही निर्माण हुआ है जिसमें राष्ट्रीय मार्ग-२८ है जो सरयू पर पुल बन जाने से फंजाबाद-अयोध्या से होकर जाने लगा। इसके अतिरिक्त फंजाबाद-इलाहाबाद एवं फंजाबाद-आजमगढ़ को क्रमशः राज्य मार्ग २६ एवं ३० बनाया गया।

सड़क-जाल का स्वरूप:—फंजाबाद नगर में सड़क-जाल का स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न मिलता है। चौक से मुख्य सड़कें सभी दिशाओं को जाती हैं। फंजाबाद-अयोध्या मार्ग सरयू नदी के लगभग समानान्तर है। राज्य मार्ग-२६ एवं ३० क्रमशः दक्षिण एवं दक्षिण पूरब को जाती हैं। इन सड़कों के समानान्तर कई सड़कों का विकास हुआ है। नगर के उत्तरी भाग में सड़कों का जाल सघन है। मुख्य सड़क राष्ट्रीय मार्ग-२८ के समानान्तर है। जिसके बीच में कई सड़कें दोनों को मिलाती हैं। अतः स्वरूप आयताकार हो गया है। नगर के दक्षिण भाग में सड़क घनत्व कम है। क्योंकि सड़कों का विकास कम हुआ है। सिविल लाइन में सड़कें आयताकार हैं। स्वरूप में विभिन्नता का मुख्य कारण सड़क दिशा के निर्धारण में विभिन्न तत्वों का प्रभाव है जिसमें घाघरा नदी की दिशा, व्यावसायिक केन्द्र, जनसंख्या घनत्व एवं कार्य-स्वरूप आदि मुख्य हैं।



अयोध्या में सड़कों का स्वरूप जटिल है। अयोध्या में भी उपयुक्त तत्वों सहित धार्मिक स्थानों से घाघरा नदी की स्थिति सड़क-स्वरूप को निर्धारित करती है। सड़कें अत्यन्त टेढ़ी-मेढ़ी हैं। जिनका स्वरूप आयताकार, त्रिभुजाकार एवं कहीं-कहीं अर्द्ध-चाप के रूप में है। जिसका मुख्य कारण है कि नगर कई बार विध्वंस हुआ है एवं धार्मिक स्थान पहले निर्मित हुए। अतः सड़कें धार्मिक स्थानों एवं प्राचीन स्थानों को बचाकर अपना स्वरूप ग्रहण कर सकी हैं।

परिवहन-अभिगम्यता :- यातायात में अभिगम्यता एक महत्वपूर्ण सूचक है। जो क्षेत्र जितना अधिक अभिगम्य होगा, वह उतना ही विकसित होगा। जिन नगरों में यातायात के स्वरूप का विकास से सामंजस्य रहता है, अभिगम्यता विकास के साथ बढ़ती चली जाती है।⁸ अभिगम्यता वास्तविक दूरियों में तथा समय अथवा धन के अनुसार प्रदर्शित होती है।

फैजाबाद-अयोध्या नगर में अभिगम्यता को मुख्य मार्गों के आधार पर स्थापित किया गया है, जो मुख्य सड़क से १०० मीटर, १००-२०० मीटर, २००-३०० मीटर एवं ३०० मीटर से अधिक दूर वाले क्षेत्रों के रूप में प्रदर्शित है। २०० मीटर से अधिक अभिगम्यता रखने वाले क्षेत्रों को यातायात में कठिनाई होती है, क्योंकि ये मुख्य सड़क से दूर पड़ते हैं। जब कि मुख्य कार्य स्थलों, व्यापारिक क्षेत्रों एवं स्टेशनों का विकास मुख्य सड़क के पास १०० मीटर वाले क्षेत्र में हुआ है। अतः नगर को अधिक नियोजित एवं विकसित करने के लिए आवश्यक है कि १००-२०० मीटर के मध्य बसी हुई पेट्री में उचित स्थानों पर कटाव पैदा करके मार्ग पिछले क्षेत्र में स्थापित कर दिये जाय जिससे सभी स्थान अभिगम्य हो जाय।

सड़क-वातावरण :- सड़क वातावरण भौगोलिक परिकल्पना है, जिसकी तरफ सामान्य रूप से

नियोजन कर्ताओं का ध्यान नहीं जाता है। जिस प्रकार वातावरण मानवीय क्रियाओं को कुछ भौगोलिक सीमाओं में नियंत्रित करता है, उसी प्रकार सड़क-वातावरण भी यातायात के स्वरूप, उसकी समस्याओं एवं गुणों को प्रभावित करता है। सड़क-वातावरण भौतिक एवं सांस्कृतिक दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। भौतिक वातावरण में सड़क की चौड़ाई, बनावट, सफाई, दृश्यता, मोड़ एवं जल-बहाव के स्रोत मुख्य हैं, जबकि सांस्कृतिक वातावरण तात्पर्य उन लोगों के सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर से है जिनका किसी न किसी रूप में सड़क सम्बन्ध है। अतः सड़क उपयोग से सम्बन्धित जितने ही शिक्षित, बुद्धिजीवी एवं अनुशासित सांस्कृतिक-सड़क-वातावरण उतना ही सुन्दर एवं स्वच्छ होगा। भौतिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से फैजाबाद-अयोध्या का सड़क-वातावरण ठीक नहीं है। ६० प्रतिशत सड़कें ऐसी हैं, जिनका वातावरण ठीक नहीं है तथा ५० प्रतिशत सड़कें स्वचालित साधन के लिए अनुपयुक्त हैं। जिसका मुख्य कारण है कि नगर में प्राचीन एवं मध्य कालीन विशेषताओं के कारण सड़कें अव्यवस्थित हैं एवं जनसंख्या का घनत्व पुराने क्षेत्रों में अधिक है, जिससे सड़क के किनारे रहने वाले लोग सड़कों की पटरियों का भी अधिग्रहण कर लेते हैं। नगर में सड़कों की चौड़ाई बहुत कम है जब कि सड़कों की चौड़ाई का स्वरूप, वातावरण परिभाषा बदलने के कारण उसी प्रकार बदलना चाहिए जिस प्रकार भौतिक वातावरण की परिभाषा मानवीय ज्ञान के विकास के साथ परिवर्तित होती रहती है। अतः नगर के बढ़ते हुए यातायात साधनों को देखते हुए यह आवश्यक है कि सड़कों की चौड़ाई में वृद्धि कर उनको सुन्दर स्वरूप प्रदान किया जाय।

यातायात-स्वरूप :- नगरीय यातायात, मानव क्रिया एवं नगरीय क्रिया में उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जैसे कि शरीर में धमनियां एवं शिराये संचार के

लिये महत्वपूर्ण हैं। यातायात, एक प्रकार से नगरीय-शरीर के संचार की धमनियाँ एवं शिरायें हैं, जो नगरीय-शरीर के विभिन्न क्रिया-स्थलों पर होने वाले कार्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और वहाँ के उत्पादनों को अथवा क्रियाप्रतिफल को एक दूसरे निदिष्ट स्थानों तक पहुँचाते हैं। फैजाबाद-अयोध्या नगर में यातायात-स्वरूप दो रूपों में प्राप्त होता है:-

क-बाह्य यातायात--

(१) रेल यातायात^१:- फैजाबाद-अयोध्या में तीन रेलवे स्टेशन-फैजाबाद जंक्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव एवं अयोध्या है, जहाँ से यात्री एवं माल दोनों का वहन होता है। फैजाबाद जंक्शन पर वर्ष १९७२ से १९७७ के मध्य प्रति वर्ष क्रमशः ८३७४७, ७१५४२, ६७६७८, ५४६२१, ८६००६ एवं ६४१६५ औसत मासिक यात्री बाहर से आये हैं। वर्ष १९७७ के विभिन्न महीनों में बाहर से आने वाले यात्रियों की संख्या ४८०००-६२००० के मध्य है जब कि प्रतिदिन बाहर से आने वाले यात्रियों की औसत संख्या २५०० है जो प्रत्येक दिन अलग-अलग प्राप्त है। आचार्य नरेन्द्रदेव स्टेशन पर १९७२ से १९७७ के मध्य २६ माह ऐसा है जिसमें प्रतिमाह १५०००-२१००० के मध्य यात्री आते हैं। जब कि अप्रैल १९७६ से मार्च १९७७ तक १३०००-१७००० यात्री प्रतिमास आते हैं। अयोध्या स्टेशन पर १९७६ से १९७७ में प्रतिमाह आने वाले यात्रियों की औसत संख्या २८०० है जब कि अगस्त, नवम्बर एवं मार्च में यह संख्या ३०००० से अधिक है जिसका मुख्य कारण है कि ये महीने क्रमशः भूला, कार्तिक आदि धार्मिक त्योहारों का है। वर्ष १९७३-७७ के मध्य फैजाबाद जंक्शन पर १४ माह ऐसा है जिसमें प्रतिमाह १०००० १४०००० यात्री बाहर गये हैं। इसी अवधि में अयोध्या स्टेशन पर २५ माह ऐसा है जिसमें २०००-२८००० यात्री प्रतिमाह बाहर गये हैं। वर्ष १९७२-७७ के मध्य अयोध्या स्टेशन पर १४ से २६ माह के बीच ३००१-६०० किग्रा० एवं २ से ५ माह के

बीच ६०००-३७००० किग्रा० वस्तुयें बाहर से आयी हैं। जब कि इसी अवधि में प्रतिमाह बाहर जाने वाली वस्तुओं की औसत मात्रा १५०० किलो ग्राम है। रोडगंज रेलवे स्टेशन पर अप्रैल १९७६ से मार्च १९७७ के मध्य प्रति माह औसत २७४५-७४२६ कि० ग्राम वस्तुयें बाहर से आयी हैं, जब कि इसी अवधि में जाने वाली वस्तुओं की मात्रा ७५२५-२१८०० किलो ग्राम के मध्य है।

(२) सड़क यातायात^{१०}:- बस स्टेशन फैजाबाद से सप्ताह में प्रति दिन जाने वाले यात्रियों की औसत संख्या लखनऊ, इलाहाबाद, आजमगढ़, गोरखपुर, बाराबंकी, गोण्डा, एवं बहराइच के लिए क्रमशः २१७-३४०, १३६-२६८, ३१७-६७३, २००-३४०, ५५-१७६, १३४-२३४ एवं ४७-१०० के मध्य प्राप्त होती है। नगर बस द्वारा चौक से प्रति मास, दिन के अनुसार जाने वाले यात्रियों की संख्या सोहावल, बीकापुर, भीटी, नवाबगंज, बिलहरघाट एवं मिल्कीपुर के लिए क्रमशः ४००-११००, ६००-२१००, २५-२०८, २००-१३००, ५०-५५० एवं ७६-२७५ के मध्य प्राप्त होती है। बस स्टेशन अयोध्या से प्रति दिन जाने वाले यात्रियों की संख्या वर्ष १९७६-७७ के मध्य २३२ दिन ३००-८००, ३३३ दिन ५००-७०० एवं ६ से ७८ दिन ७००-१६०० के मध्य है।

(ख) आन्तरिक यातायात:-

किसी भी नगर के आन्तरिक यातायात अध्ययन के लिए नगर के यातायात प्रवाह का ज्ञान आवश्यक है। इसी उद्देश्य से फैजाबाद-अयोध्या नगर के आन्तरिक यातायात अध्ययन के लिए यातायात प्रवाह सर्वेक्षण किया गया है। यह सर्वेक्षण प्रातः ६ बजे रात्रि १० बजे तक लगातार किया गया है। रात्रि १० बजे-प्रातः ६ बजे तक के यातायात प्रवाह की चुंगी चौकियों से प्राप्त कर लिया गया है, क्योंकि इस अवधि में बाह्य यातायात ही अधिक सक्रिय रहते हैं। यातायात प्रवाह सर्वेक्षण में २४ सहयोगियों ने कार्य किया

है। जिसका निरीक्षण श्री सियाबिहारी शरण (प्रवक्ता, भूगोल विभाग, का० मु० साकेत महाविद्यालय फंजावाद) ने किया है। सर्वेक्षण के लिए मुख्य चौराहों को निकटता के आधार पर तीन क्षेत्रों में बांटा गया है:-

(१) अयोध्या

(२) साहबगंज

(३) सीविल लाइन, रिकाबगंज एवं फतेहगंज।

इन तीनों क्षेत्रों में यातायात प्रवाह सर्वेक्षण निम्न क्रम के अनुसार सप्ताह में तीन चक्र में पूरा किया गया है^{११}:-

चक्र संख्या	क्षेत्रों में अध्ययन के दिन		
	I	II	III (क्षेत्र)
प्रथम	१	३	५
द्वितीय	७	२	४
तृतीय	६	१	३

आन्तरिक-यातायात की विशेषताओं को देखते हुए इसका अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

(१) मात्रानुसार यातायात :- फंजावाद नगर में सबसे अधिक यातायात प्रवाह चौक कचहरी मार्ग एवं चौक-फतेहगंज मार्ग पर औसत प्रति घंटा क्रमशः २७२४ एवं १५६३ है। इसके अतिरिक्त इन मार्गों पर पैदल प्रवाह औसत प्रतिघण्टा क्रमशः १०२८ एवं ६७२ है। देवकाली-फतेहगंज, फतेहगंज-फौवारा एवं फतेहगंज-रिकाबगंज मार्ग पर औसत यातायात प्रवाह मिलता है, जो १३२२ प्रतिघण्टा है। इसमें पैदल प्रवाह सम्मिलित नहीं है। नगर में यातायात-स्वरूप को नगर कार्य-स्वरूप एवं नगर-आकारिकी सबसे अधिक प्रभावित करता है। चौक क्षेत्र, परिवहन केन्द्र का कार्य करता है, क्योंकि यह यातायात परिवर्तन-स्थल है एवं यहाँ से नगरीय बस सेवायें भी जाती हैं। इसलिए चौक से चारों तरफ विकीरण करती हुई मार्गों पर यातायात-प्रवाह अधिक रहता है। मात्रा के दृष्टि

कोण से विभिन्न यातायात साधनों में भिन्नता मिलती है। स्वचालित साधन सम्पूर्ण यातायात प्रवाह में केवल १३ प्रतिशत है, जबकि इक्का, तांगा एवं ठेला ३.५ प्रतिशत तथा पैदल प्रवाह कहीं-कहीं ५०-६० प्रतिशत तक मिलता है। स्वचालित साधन नियावाँचौराहा-गुदरी बाजार मार्ग पर सबसे अधिक ३४.१२ प्रतिशत एवं अयोध्या में हनुमानगढ़ी-रामघाट मार्ग पर सबसे कम २.२ प्रतिशत है। गुदरी बाजार-साहबगंज मार्ग एवं रिकाबगंज-चौक मार्ग पर सायकिल, रिक्शा तथा स्वचालित साधनों का प्रतिशत क्रमशः ६३.६६ एवं ३०.४० तथा ६१.५५ एवं ८.०७ हैं।

अयोध्या क्षेत्र में राष्ट्रीय मार्ग पर सबसे अधिक यातायात प्रवाह मिलता है। जो ६३०-८८४ के मध्य (पैदल छोड़कर) प्रतिघण्टा है तथा पैदल प्रवाह ५१५ प्रति घंटा है। औसत यातायात प्रवाह श्रीराम अस्पताल-अयोध्या रेलवे स्टेशन मार्ग पर ४६५ प्रति घण्टा (पैदल छोड़कर) मिलता है। सबसे कम यातायात प्रवाह हनुमान गढ़ी-रामघाट मार्ग पर ११८ प्रति घण्टा है। अयोध्या क्षेत्र की यह विशेषता है कि सायकिल एवं रिक्शा सम्पूर्ण यातायात प्रवाह का औसत रूप से ६० प्रतिशत तथा पैदल प्रवाह वाहन आदि से अधिक है।

(२) गुणानुसार यातायात :-

(क) स्वचालित साधन:- स्वचालित साधनों का यातायात प्रवाह कचहरी रिकाबगंज, रीडगंज-देवकाली, रिकाबगंज-नियावाँ चौराहा, गुदरी बाजार-साहबगंज एवं साहबगंज-अयोध्या मार्ग पर क्रमशः ३२४, २४६, १५२, १६० एवं ४३ प्रति घण्टा औसत प्राप्त होता है। स्कूटर एवं मोटर सायकिलों की संख्या स्वचालित साधनों में सबसे अधिक चौक-कचहरी एवं चौक-हवाई अड्डा मार्ग पर १२५-१४० के मध्य प्रतिघण्टा मिलता है, जबकि जीप, कार एवं टैम्पू की संख्या इन मार्गों पर क्रमशः १३६ एवं १२७ प्रति घण्टा मिलती है। राष्ट्रीय मार्ग पर बसों की संख्या २०-४०

के मध्य प्रति घण्टा, जब कि राज्य मार्ग २६ एवं ३० पर बसों की संख्या १०-२० के मध्य प्रति घण्टा है। ट्रकों की औसत संख्या राष्ट्रीय मार्ग पर ३० प्रतिघण्टा है जब कि फैजाबाद-इलाहाबाद मार्ग पर ३८-४० के मध्य तथा फतेहगंज-अकबरपुर मार्ग पर ३५ प्रति घण्टा है। अन्य मार्गों पर ट्रकों की संख्या ५ से भी कम प्रतिघण्टा मिलती है। स्वचालित साधनों में यातायात प्रवाह की मात्रा एवं उनके वितरण में यह अन्तर स्वचालित साधनों के उपयोग, नगर के कार्यस्वरूप एवं मार्गों की स्थिति पर निर्भर करता है।

(ख) सायकिल एवं रिक्शा:-

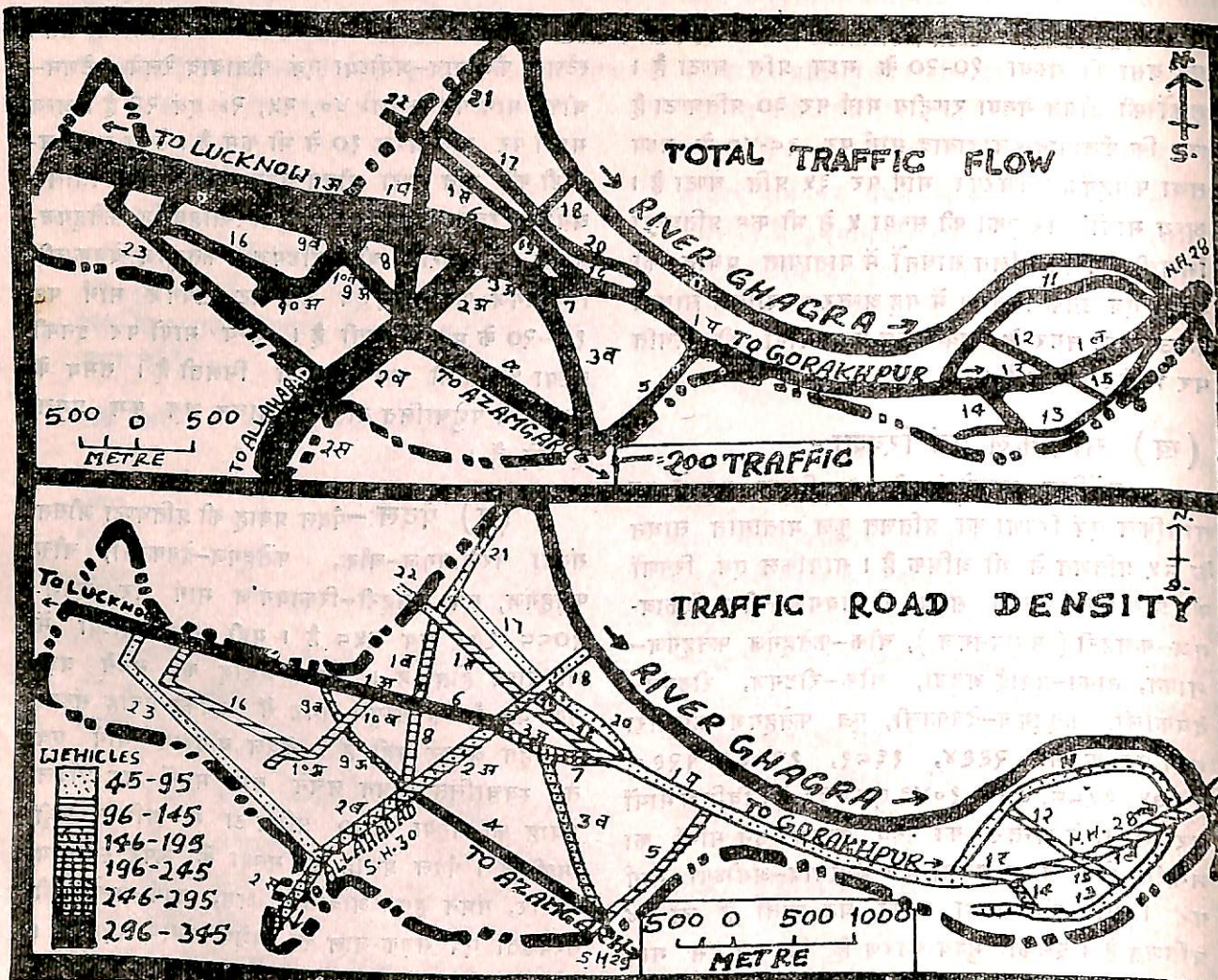
सर्वेक्षित सड़कों में से ५० प्रतिशत सड़कों पर सायकिल एवं रिक्शा का प्रतिशत कुल यातायात साधन के ८५ प्रतिशत से भी अधिक है। सायकिल एवं रिक्शों की प्रति घण्टा औसत संख्या रिकावगंज-चौक, रिकावगंज-कचहरी (सहादतगंज), चौक-फतेहगंज, फतेहगंज-नाका, नाका-हवाई अड्डा, चौक-रीडगंज, रीडगंज-देवकाली, फतेहगंज-देवकाली, एवं फतेहगंज-फौज्वारा मार्ग पर क्रमशः २६६४, १६८१, १३८०, १२६०, ११७५, १५८८, ७७०, १०४३ एवं ८३६ है। विभिन्न मार्गों पर संख्या में अन्तर का मुख्य कारण उन मार्गों का नगरीय क्षेत्रों से सम्बद्धता है। फैजाबाद-अयोध्या मार्ग पर रिक्शों की संख्या काफी घट जाती है जो ६४ प्रतिशत है। इसका मुख्य कारण है कि इस इस मार्ग पर नगर बस सेवा अधिक प्राप्त है जिसकी तुलना में रिक्शा द्वारा यातायात मंहगा पड़ता है। इसी मार्ग पर सायकिलों की संख्या २०० प्रति घण्टा है जब कि ६ बजे प्रातः, ११ बजे एवं ३ बजे, ५ बजे शाम तक यह संख्या ५०० मिलती है जिसका मुख्य कारण साकेत कालेल में आने-जाने वालों से है। हनुमानगढ़ी, जन्मस्थान एवं टेढ़ीबाजार-लक्ष्मन किला मार्ग पर सायकिल एवं रिक्शों की औसत संख्या २०० प्रति घण्टा है।

(ग) इक्का-तांगा एवं ठेला (पशुचालित):-
इक्का एवं तांगा की प्रति घण्टा औसत संख्या में

नयाघाट-टेढ़ी चौराहा, श्रीराम अस्पताल-अयोध्या रेलवे स्टेशन, फैजाबाद-अयोध्या एवं फैजाबाद रेलवे स्टेशन-चौक मार्ग पर क्रमशः ४०, २५, २० एवं २२ है। अन्य मार्गों पर प्रति घण्टा १० से भी कम है। ठेला एवं बैलगाड़ी की प्रति घण्टा औसत संख्या श्रीराम अस्पताल-अयोध्या रेलवे स्टेशन, गुदरी बाजार-साहबगंज, फतेहगंज-नाका मुजफ्फरा, चौक-रीडगंज, फतेहगंज-देवकाली, रिकावगंज-फतेहगंज एवं नयाघाट-रायगंज मार्ग पर १०-२० के मध्य मिलती है। अन्य मार्गों पर इनकी संख्या ५ से भी कम प्रतिघण्टा मिलती है। समय के साथ-साथ पशुचालित यातायात साधन अब कम प्रयुक्त हो रहे हैं।

(घ) पैदल:-पैदल प्रवाह की प्रतिघण्टा औसत संख्या रिकावगंज-चौक, फतेहगंज-देवकाली, चौक-फतेहगंज, एवं कचहरी-रिकावगंज मार्ग पर क्रमशः १०८८, ६७२ एवं ६५८ है। यही गुण अयोध्या में भी प्राप्त होता है। पैदल प्रवाह का सबसे बड़ा गुण यह है कि सम्पूर्ण नगर में इनकी प्रवाह संख्या में बहुत अन्तर नहीं है। केवल बाईपास मार्ग एवं तेज स्वचालित साधन लचने वाले मार्गों पर पैदल प्रवाह की संख्या २०० प्रतिघण्टा से अधिक नहीं मिली है। पैदल प्रवाह की संख्या के ऊपर स्थानीय बाजार, संघन हुए आवासीय क्षेत्र, कार्य-क्षेत्रों की सम्बद्धता एवं सड़क जाल का विशेष प्रभाव पड़ता है।

सड़क-यातायात-घनत्व:-¹² सड़क की चौड़ाई एवं सड़क पर प्राप्त यातायात घनत्व का अत्यन्त स्पष्ट सम्बन्ध परिलक्षित है।¹³ सड़क की चौड़ाई कम एवं ज्यादा होने के साथ-साथ यातायात घनत्व में भी अन्तर हो जाता है। फैजाबाद-अयोध्या नगर में औसत यातायात घनत्व १५५.७५ प्राप्त होता है। जब कि ६६.६ प्रतिशत सड़कों पर ७५.६० एवं २३६.५५ प्रतिशत के मध्य यातायात घनत्व मिलता है। सबसे अधिक घनत्व चौक-रिकावगंज मार्ग पर ३२०.४७ एवं सबसे कम घनत्व हनुमानगढ़ी-रामघाट (अयोध्या) मार्ग पर ४५.६६ मिलता है। औसत

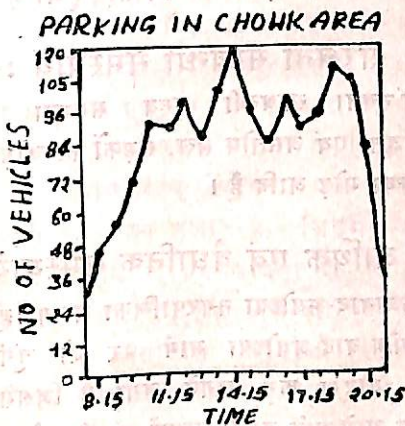


नोट - मानचित्र में दी हुई सड़क संख्या परीक्षण अ (तालिका) में दी हुई सड़क संख्या के अनुसार है।

विचलन घनत्व ६४.५४ एवं मानक विचलन घनत्व ७९.८० प्राप्त होता है। सहादतगंज-रिकावगंज, चौक-रिकावगंज, चौक-फतेहगंज, रीडगंज-आँखअस्पताल, रिकावगंज-फतेहगंज एवं फीझारा मार्गों पर यातायात घनत्व औसत से अधिक एवं अन्य मार्गों पर औसत से कम मिलता है। सर्वेक्षित सड़कों में से ८ सड़कों पर यातायात घनत्व ४५-९५, १२ सड़कों पर ९६-१४५, ५ सड़कों पर १४६-१९५, २ सड़कों पर १९६-२४५, ४ सड़कों पर २४६-२९५ एवं ३ सड़कों पर २९६-३४५ मिलता है।

पार्किंग:—पार्किंग नगरीय यातायात की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। यह नगर के स्वरूप, आकार एवं कार्य के अनुसार विषमता ग्रहण करती है^{१५}। फैजाबाद नगर व्यावसायिक क्षेत्र में पार्किंग सर्वेक्षण से पता चला है कि स्वचालित साधन २ घण्टा १५ मिनट तक अधिक पार्क होते हैं। इससे अधिक समय तक पार्क होने वाले स्वचालित साधन कुल पार्क यातायात साधन के ८.६ प्रतिशत हैं। १० बजे से १२ बजे तक ३० स्वचालित साधन पार्क मिलते हैं। १२-५ बजे शाम तक संख्या घट जाती है तथा पुनः ७ बजे सायं तक इनकी संख्या

बढ़ जाती है। पार्किंग में यह प्रवृत्ति कार्य, स्वरूप एवं बाजार से सम्बन्धित प्रतीत होती है। यही प्रवृत्ति सभी साधनों में मिलती है। रिक्शों की पार्किंग संख्या १०-१२ बजे के बीच ६० रहती है जब कि २.१५-२.४५ बजे एवं ४.३०-५ तक इनकी संख्या ७६ एवं ७७ हो जाती है। तांगा-इक्का की पार्किंग संख्या १२ बजे से २ बजे दिन तक १७० हो जाती है। नगर में इन सभी साधनों के पार्किंग के लिए कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है, जिससे कई समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। चौक क्षेत्र में रिक्शा एवं तांगा की पार्किंग से व्यावसायिक क्षेत्र का एक बड़ा सा भाग पीछे पड़ जाता है और यातायात के आवागमन में कठिनाई होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनके पार्क होने के लिए निर्दिष्ट स्थान रखा जाय और यह स्थान व्यापारिक क्षेत्र से अधिक दूर न हो।



नगर में पार्किंग के उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० उजाग्र सिंह का यह कथन कि पार्किंग स्थानों की आवश्यकता नगरों की संरचना एवं मनुष्यों के जीवन स्तर पर या मोटर चलाने की आदत पर निर्भर करती है। एक मोटर मालिक अपनी गाड़ी को अपने निर्दिष्ट स्थान के निकटतम बिन्दु तक ले जाना चाहता है¹⁵। फैजाबाद नगर के लिये भी यह सत्य साबित हुआ है।

भूमि उपयोग एवं यातायात :- यातायात की सुविधा बढ़ने पर नगर के विभिन्न क्षेत्र तेजी से अपने कार्य स्वरूप एवं भूमि उपयोग को परिवर्तित करते हैं। नगर के विकास के साथ-साथ भूमि उपयोग एवं स्वरूप जैसे-जैसे परिवर्तित होता है, सड़क जाल उसके विकास को नियन्त्रित करता है। जिन मार्गों में यातायात की सुगम्यता नहीं है, वह भाग पिछड़े एवं गन्दी बस्ती के रूप में रह जाते हैं। समय के अनुसार जब भूमि उपयोग एवं कार्यात्मक स्वरूप में परिवर्तन होता है तो यातायात आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं और नगर के पहले स्वच्छ एवं उचित यातायात के क्षेत्र यातायात समस्या के रूप में बदल जाते हैं। यह गुण फैजाबाद-अयोध्या नगर के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, क्योंकि यह नगर तेजी से विकास कर रहा है। नगर में यातायात एवं भूमि उपयोग का सम्बन्ध निम्न रूप में प्राप्त होता है :-

(क) आवासीय क्षेत्र में यातायात :- फैजाबाद-अयोध्या नगर के आवासीय क्षेत्रों में यातायात-प्रवाह की संख्या कम प्राप्त होती है। केवल कार्य प्रारम्भ के समय एवं कार्य समाप्ति के बाद यातायात प्रवाह बढ़ जाता है। यह गुण नियावाँ-जमथरा, देवकाली-वेनीगंज एवं हसनूकटरा-दिल्लीदरवाजा मार्ग पर स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

(ख) प्रशासकीय क्षेत्र में यातायात :- प्रशासकीय क्षेत्र सिविल लाइन नगर के कोने-कोने में एवं जिला तथा कमिश्नरी मुख्यालय होने के कारण आन्तरिक तथा बाह्य क्षेत्रों से सम्बन्धित है। इसलिये यह क्षेत्र यातायात स्वरूप को भौगोलिक रूप से आन्तरिक जल-प्रवाह प्रणाली की तरह परिणत कर देता है। अतः इसे आन्तरिक परिवहन प्रणाली कहा जा सकता है। यह क्षेत्र एक आन्तरिक केन्द्र स्थल की तरह दिखायी पड़ता है, जिसमें चारों तरफ से एकत्र होकर मार्गों द्वारा यातायात इस क्षेत्र में एकत्र हो जाता है और सायंकाल बाह्य जल प्रवाह प्रणाली की तरह फूटता है जिसका स्वरूप रेगिस्तानी जल प्रवाह प्रणाली की तरह मिलता है।

[ग] व्यावसायिक एवं केन्द्रीय क्षेत्र में यातायात-यह नगर चौक क्षेत्र है। एक अन्य थोक गल्ला क्षेत्र फतेहगंज में है। यातायात की दृष्टि से चौक क्षेत्र यातायात का केन्द्र भी है, जहाँ पर विभिन्न बाह्य क्षेत्रों से मार्ग सीधे आकर मिलते हैं। इस भाग में व्यापारिक कार्यों के लिये बाहर से ११ बजे से ३ बजे दिन के मध्य लोग एकत्र होते हैं तथा स्थानीय लोग तीन बजे से सात बजे सायं के मध्य दैनिक उपभोग की वस्तुओं को खरीदते तथा भ्रमण के लिये एकत्र होते हैं। इसलिये इस क्षेत्र में स्वचालित साधनों को छोड़कर अन्य यातायात-प्रवाह अधिक रहता है।

यातायात क्षेत्र :—

यातायात क्षेत्र अपने गुण में अधिकतर केन्द्रीय होते हैं क्योंकि यातायात एक प्रकार से संगठन एवं कार्य स्वरूप का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है।¹⁶ नगरीय यातायात क्षेत्र एक विशेष प्रकार के कार्य स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं, जिसपर उस क्षेत्र की आर्थिक, समाजिक एवं बौद्धिक स्तर का भी प्रभाव रहता है। इसलिए नगर में केवल संगठन एवं कार्य-स्वरूप इकाइयों के आधार पर ही क्षेत्रों का निर्धारण करना उचित नहीं होगा, अपितु क्षेत्र के अन्य भौगोलिक तत्त्वों के आधार पर भी क्षेत्रों का निर्धारण उचित होगा जिसमें निम्न तत्त्व मुख्य हैं—

(१) क्षेत्र में जनसंख्या आकार (२) नगर के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले लोगों का प्रतिशत (३) क्षेत्रों में यातायात साधन की उपलब्धता (४) क्षेत्र में औद्योगिक एवं व्यापारिक संस्थानों में काम करने वाले लोगों का प्रतिशत (५) उस क्षेत्र से अन्य क्षेत्रों में जाने वाले लोगों की अलग-अलग संख्या (६) क्षेत्र की समस्यायें (७) क्षेत्र का सड़क जाल स्वरूप।

इन तत्त्वों का विश्लेषण करने पर और उनमें क्षेत्रीय अन्तर और समानताओं को ध्यान में रखने पर निम्नलिखित यातायात-क्षेत्र प्राप्त होते हैं—

(१) प्रशासकीय क्षेत्र (२) नियोजित आवासीय

क्षेत्र (३) कैंटोनमेन्ट क्षेत्र (४) पुराना मध्य कालीन मुगल क्षेत्र (५) मध्यकालीन व्यापारिक क्षेत्र (६) मध्य कालीन खुला एवं आवासीय क्षेत्र (७) थोक गल्ला एवं बाजार क्षेत्र (८) नवीन औद्योगिक क्षेत्र (९) अयोध्या के मन्दिरों का क्षेत्र (१०) घाट एवं मन्दिरों का क्षेत्र (११) धार्मिक निवास एवं व्यापारिक क्षेत्र।

यातायात समस्यायें :—

फैजाबाद-अयोध्या नगर में यातायात का मुख्य साधन सड़क ही हैं। नगर-विकास एवं बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण इस सड़क-यातायात में समस्यायें उत्पन्न होती जा रही हैं। अध्ययन के पश्चात् निम्न समस्यायें प्राप्त हुई हैं :—

(क) विस्तार सम्बन्धी समस्यायें :—

नगर-विकास एवं बढ़ती हुई जनसंख्या की दृष्टि से कई भागों में सड़कों का विस्तार हुआ है।

(ख) संरचना सम्बन्धी समस्यायें :—

संरचना सम्बन्धी मुख्य समस्या सड़क की असम्बद्धता एवं असंतोष तल, सड़कों की चौड़ाई में कमी एवं अन्धा मोड़ आदि है।

(ग) आर्थिक एवं वैधानिक समस्यायें :—

फैजाबाद-अयोध्या नगरपालिका अलग हो जाने के बाद फैजाबाद-अयोध्या मार्ग पर दो चुंगी पोस्ट के कारण दोहरा कर लगने लगा है जिससे प्रतिदिन सेवनीय आने-जाने वाली वस्तुएँ मँहगी हो जाती हैं। वैधानिक समस्याओं में गाड़ियों का रजिस्ट्रेशन एवं परमिट सम्बन्धी समस्या मुख्य है।

(घ) संगठनात्मक समस्यायें :—

सड़क-परिवहन के विभिन्न पक्षों की देख-रेख विभिन्न संस्थायें करती हैं। जैसे सड़कों का निर्माण, उनके वितरण एवं महत्ता के अनुसार नगर पालिका, राज्य सरकार एवं केन्द्रीय सरकार द्वारा अलग-अलग होता है। माल परिवहन का कार्य कुछ व्यक्ति ही करते हैं

एवं यात्री परिवहन में राजकीय एवं व्यक्तिगत वसें संलग्न है। गाड़ियों को निर्दिष्ट क्षेत्रों या सड़कों पर चलने का परमिट एवं कर वसूलने का कार्य परिवहन अधिकारी करता है जबकि गाड़ियों का नियमन पुलिस विभाग के अधीन है। यह समस्या प्रायः प्रत्येक नगरों में है।

(ड) संचलन सम्बन्धी समस्यायें :—

विभिन्न प्रकार के यातायात साधन का एक साथ चलना, सड़कों पर रेल मार्ग का अवरोध, चौराहों पर विभिन्न दिशा में यातायात, मार्गों पर यातायात अवरोध तथा पैदल यात्रियों की सुरक्षा से चलने की समस्या मुख्य है।

यातायात नियोजन :—

यातायात के साधनों का आर्थिक कार्य-कलापों की स्थिति एवं विस्तार में सर्व प्रथम स्थान है, अतः यातायात व्यवस्था का संयोजित विकास उतना ही आवश्यक है जितना कृषि, उद्योग इत्यादि का।¹⁷ सड़क योजना के सम्बन्ध में सर्व प्रथम सड़कों पर पड़ने वाले वर्तमान एवं सम्भावित भार का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। सड़क योजना के लिए राष्ट्रीय स्तर पर २० वर्षीय वृहद् योजना एवं समय-समय पर समितियों का गठन हुआ है, जिसमें यातायात समस्याओं के निराकरण एवं योजना के लिए सुझाव प्रस्तुत किया गया है। इन सुझावों एवं फैजाबाद-अयोध्या में प्राप्त यातायात समस्याओं को ध्यान में रखते हुए एक सामान्य योजना प्रस्तुत की गयी है, जो निम्न है :—

(१) विस्तार पक्ष :—

नगर में प्राप्त वर्तमान सड़कों के अतिरिक्त अग्र-लिखित सड़कों का निर्माण होना आवश्यक है—

(क) मुख्य मार्ग :—

नियोजित मुख्य मार्गों में सबसे प्रमुख मार्ग नया घाट (अयोध्या) से होकर अयोध्या-फैजाबाद के दक्षिणी सीमा के बाहर से होती हुई आगे चल कर पश्चिम में फैजाबाद नगर से बाहर राष्ट्रीय मार्ग-२८

में मिल जाती है। यद्यपि यह मार्ग सरकार द्वारा प्रस्तावित है, लेकिन अभी तक इसका निर्माण कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ। अब इसी मार्ग को राष्ट्रीय मार्ग-२८ का बाईपास मार्ग बना दिया गया है। दूसरा मुख्य मार्ग राठहवेली वार्ड के उत्तरी सीमा से प्रारम्भ होती हुई अयोध्या तक है।

(ख) आवासीय मार्ग :—

नगर के उन आवासीय क्षेत्रों में मार्ग का निर्माण होना आवश्यक है जहाँ पर मार्ग नहीं हैं। ऐसे क्षेत्र साहबगंज, हैदरगंज, लालबाग एवं रामकोट मुख्य हैं।

(ग) बाईपास मार्ग :—

वर्तमान समय में नगर में प्रयुक्त बाईपास मार्ग अब नगर के मुख्य व्यस्त मार्गों की श्रेणी में आ गये हैं, अतः इनके अतिरिक्त अन्य मार्गों का निर्माण आवश्यक है। चौक-कचहरी, चौक-हवाई अड्डा एवं चौक-अयोध्या मार्ग की दोनों पटरियों को घेर कर इन पटरियों को सिर्फ पैदल के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए। क्योंकि इन मार्गों पर यातायात-प्रवाह बहुत अधिक है।

इसके अतिरिक्त पूरक मार्ग, कार्य मार्ग एवं एकत्रीकरण मार्ग का निर्माण होना आवश्यक है।

(२) संरचना पक्ष :—

वर्तमान समय में प्राप्त सभी सड़कों की चौड़ाई में वृद्धि एवं तल में सुधार आवश्यक है। बढ़ते हुए यातायात प्रवाह को देखते हुए फैजाबाद के साहबगंज में गन्दा नाला पर बने पुल की चौड़ाई में वृद्धि एवं सुधार आवश्यक है, क्योंकि यह पुल कमजोर हो गया है।

(३) संचालन पक्ष :—

सड़क यातायात के लिए कोई भी अच्छी व्यवस्था तभी सम्भव है, जब इससे सम्बन्धित विभिन्न संस्थाओं का आपस में सगठन हो। इस प्रकार की पुष्टि सड़क यातायात पुनर्गठन समिति द्वारा पहले ही कि जा चुकी है। जिसके लिए यह आवश्यक है कि लोक निर्माण विभाग एवं परिवहन विभाग को

एक मन्त्रालय में रखा जाय । क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी एवं पुलिस प्रशासन का सम्बन्ध एक साथ हो । यातायात के विभिन्न कार्यों का सर्वेक्षण एवं व्याख्या के लिए एक पर्यवेक्षक विभाग की भी स्थापना होनी चाहिए । ये व्यवस्थाएँ किसी एक नगर के लिए सम्भव तो नहीं हैं, अपितु इसका प्रदेश या देश स्तर पर संगठन हो सकता है । बसों में भीड़ की संख्या को अधिक बस सेवाओं को बढ़ा कर दूर किया जा सकता है । ट्राफिक नियमों की कड़ाई से पालन, यात्रियों की संख्या एवं ढोये जाने वाले भार पर पूर्ण नियन्त्रण, मेलों तथा विवाह के अवसरों पर विशेष गाड़ियों का प्रबन्ध कर भीड़ की समस्या को कम किया जा सकता है । खराब एवं असुविधाजनक आकार वाली गाड़ियों के चलने पर रोक लगा देनी चाहिए ।

नगर विकास एवं अन्य कारणों से उत्पन्न यातायात समस्याओं का निराकरण उपर्युक्त योजना को क्रियान्वित कर किया जा सकता है, जिसके द्वारा नगर में सड़क यातायात की एक सामान्य व्यवस्था स्थापित हो सकती है ।

परिशिष्ट अ सन्दर्भ—

- १-चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्याति सर्वशः ।
ममाजासमकाले च यानं युग्ममनुत्तमम् ॥
(वाल्मीकि रामायण, बाल काण्ड, सर्ग ६६, श्लोक २ पृष्ठ १६३)
- २-अथो ज्वलनं संकाशं चामिकरविभूषितम् ।
तमारुहहस्तुर्णा भ्रातरी रामलक्ष्मणी ॥
सीता तृतीयानारुढान् दृष्ट्वा रथमचोदयत् ।
सुमन्त्र सम्मतानश्वान् बायुवेगसमाञ्जवे ॥
(वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ४०, श्लोक १६, १७ पृ० २६८)
- ३-अयोध्यानाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
ममुनामानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥
आयता दश च द्वय च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥
(वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, अध्याय ५, श्लोक ६, ७)

३-The History and culture of the Indian People, Vol. 1, PP. 322-323.

४-जोशी ईशा वासन्ती, उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर फैजाबाद, १९६०, इलाहाबाद, पृ० १८२ ।

५-वही, पृ० १८३ ।

६-नगरपालिका कार्यालय फैजाबाद ।

७-सड़क परिवहन कार्यालय, फैजाबाद ।

८-Singh, R.B. "Transport Geography of Uttar Pradesh," National Geographical Society of India, Varanasi 1966, PP. 59.

९-रेल यातायात सम्बन्धी सभी आँकड़े फैजाबाद, आचार्य नरेन्द्रदेव एवं अयोध्या रेलवे स्टेशनों से प्राप्त किये गये हैं ।

१०-सड़क यातायात सम्बन्धी सभी आँकड़े फैजाबाद एवं अयोध्या बस स्टेशन से प्राप्त हुये हैं ।

११-W.H. Glenuille (Edt.) "Research on Road Traffic", Her Majesty's Stationary office, London, 1966, PP. 25.

१२-सड़क यातायात घनत्व = $\frac{TX}{W} = D$, जब कि TX = Total Traffic and Road during X hours, W = Average width of the road, D = Density. (Singh R.L. and Singh Ujagir, 'Road Traffic surevey of Varanasi', The National Geographical Journal of India, Vol. IX, Part 3 & 4, Sept. 1963 PP. 148.

१३-वही पृ० १४८ ।

१४-डा० सिंह उजागिर "नगरीय भूगोल", उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७४, पृ० ३४८

१५-वही, पृ० ३४८ ।

16-Wittlessy, D., "The Region Concept and Regional method", American Geography: Inventory and Prospects, P.E. James and C.F. Jones (Edts.), Syrecuse Press, Syrecuse, 1954, PP. 37.

१७-सिंह दीनानाथ, "उत्तरी बिहार में सड़क योजना, "उत्तर भारत भूगोल पत्रिका, उत्तर भारत भूगोल परिषद, गोरखपुर, अंक ५ संख्या २, जून १९६६, पृ० २६ ।

मार्ग सं०	मार्ग का नाम	पैदल	सायकिल	रिक्शा	स्कूटर मोटर-सायकिल	जीप टेम्पो	ट्रक ट्रैक्टर	बस	ट्रेलर बैलगाड़ी	तांगा इक्का	योग पैदल छोड़कर
१-	सहादतगंज-नयाघाट अयोध्या [राष्ट्रीय मार्ग-२८]										
	अ-सहादतगंज-रिकावगंज	६५८	१६०१	८०३	१३६	६५	२४	२१	२	११	२६६३
	ब-रिकावगंज-नियवाँ चौराहा	२३४	२११	१०१	६६	३७	३६	२३	८	२	४८७
	स-नियवाँ चौराहा-गुदरी बाजार	१६५	१६५	६८	६२	३३	३५	२६	४	३	४५६
	द-गुदरी बाजार-साहबगंज	४०५	३००	१०८	८६	४०	३२	१६	१६	२०	६३८
	य-साहबगंज-देही चौराहा	१२४	३७१	६४	३२	३२	२२	१६	५	४०	५७६
	र-देही चौराहा-हनुमानगढ़ी चौराहा	४६२	५४८	१६०	२८	४४	२२	२६	८	३६	८७६
	ल-हनुमानगढ़ी चौराहा-नयाघाट	५१५	५१८	१६२	५२	५२	२४	३२	८	३६	८८४
२-	चौक-हवाई अड्डा [राज्य मार्ग-२६]										
	अ-चौक-फतेहगंज	६७२	६५५	५२४	६४	४६	४	८	२०	५	१५५६
	ब-फतेहगंज-नाका/मुजफ्फरा	६३१	८१६	५६१	१३६	१३६	३८	१५	१५	११	१६३४
	स-नाका/मुजफ्फरा-हवाई अड्डा	६००	७७५	४००	१२५	१२७	३८	१५	८	१०	१४६८
३-	चौक-देवकाली [राज्य मार्ग-३०]										
	अ-चौक-रीडगंज	७८०	११८६	४०२	५६	१६	००	२	१४	८	१६६०
	ब-रीडगंज-देवकाली	४००	५०८	२६२	७०	७०	२	१०	४	२	६२८
४-	फतेहगंज-देवकाली	८७२	६८५	३५७	६४	३०	४२	६	१०	३	११६७
५-	देवकाली-बेनीगंज	४०८	४००	७५	१२	६	२७	००	२	५	५२७
६-	चौक-रिकावगंज	१०८८	७२०	७७४	१६६	४६	४	४	४	६	२७३४
७-	रीडगंज-आँख अस्पताल	४४२	५८४	२६८	७२	३८	४	०	२२	२६	१०१२
८-	रिकावगंज-फतेहगंज	४१२	५०२	२३५	७०	२१	२२	४	१६	६	८७६
९-	फतेहगंज-फौवारा-पोस्ट/आफिस										
	अ-फतेहगंज-फौवारा	७१६	५४४	३६२	७०	१६	२०	५	५	१	१०५३
	ब-फौवारा-पोस्ट/आफिस	६००	२००	११०	३५	१२	२०	५	२	१	३८५

मार्ग सं०	मार्ग का नाम	पैदल	सायकिल	रिक्शा	स्कूटर/मोटर सायकिल	जीप/टेम्पू	ट्रक/ट्रक्टर	वस	टैला/तेलागाड़ी	तांगा/इक्का	योग (पैदल छोड़कर)
१०-	फँजाबाद रेलवे स्टेशन-स्टेट बैंक-सेन्ट्रल बैंक	४१०	२६०	४२२	२६	१६	८	४	४	२०	७६०
११-	अ-रेलवे स्टेशन-स्टेट बैंक	४००	३००	४००	२७	१८	२	००	२	२५	७७४
१२-	ब-स्टेट बैंक-सेन्ट्रल बैंक	३२६	२००	५०	६	४	२	००	४	८	२७४
१३-	देही चौराहा-लक्ष्मण किला	५६०	२६३	२४	८	६	००	००	२	१०	३४३
१४-	हुनुमानगढ़ी-राम जन्म स्थान	४०३	१६५	१७	३	२	२	००	१३	४	२०६
१५-	नयाघाट-रामघाट-रामगंज	६०२	२२०	१७७	१०	१२	४	००	२०	२२	४६५
१६-	श्रीराम अस्पताल-अयो० रेलवे स्टेशन	३५६	१४६	२२	४	००	००	००	२	४	१७८
१७-	हुनुमानगढ़ी चौराहा-रामघाट	२००	२३६	१७५	२८	२०	४	००	००	२	४६५
१८-	स्टेट बैंक-सिविल लाईन (डी.एम. बंगला)	४०२	२५६	२०५	१८	१७	२	२	२	२	५०४
१९-	हसनकरा-दिल्ली दरवाजा चौराहा	४०३	१२४	१०६	१०	६	२	००	२	२	२५२
२०-	दिल्ली दरवाजा चौराहा-अभीमकोठी	७००	२४०	२२६	२२	१४	२	००	४	२	५१०
२१-	गुदरीवाजार-दिल्ली दरवाजा चौराहा	४०६	१३६	१२२	१०	४	२	००	२	२	२७८
२२-	दिल्ली दरवाजा चौराहा-सरस्वती विद्यालय	१६६	१८५	८२	४०	२१	३	२	२	४	३३६
२३-	नियावां चौराहा-जमथरा	१७८	१६५	६२	४८	२६	३	१	५	२	३४५
२४-	नियावां चौराहा-कैन्टोनमेंट	२०५	१७५	६५	६	२	६	००	२०	१६	३२०
२५-	नाका मुजफ्फरा-मोदहा	१७१३४	१५७२३	७८७१	१७०४	१०४४	४६१	२६६	२७०	३४०	२७६७६
कुल योग											



(संख्या १०८-१०९/१०८)

महाकवि वत्सराज की नाट्य-शैली

रामजियावन पाण्डेय

महाकवि वत्सराज संस्कृत-नाट्य-गगन के एक ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा रूप आभा से नाट्य के उन क्षेत्रों को प्रकाशित किया, जो प्रायः अस्पृष्ट अथवा अन्धकाराच्छन्न थे। नाटक और प्रकरण रूपक की प्रमुख एवं बहुप्रचलित विधाएँ हैं, किन्तु अन्य विधाएँ—माण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग¹ आदि कम प्रचलित हैं। इनके लक्ष्य-ग्रन्थों की न्यूनता या अभाव वत्सराज को अवश्य खटकता रहा होगा, उनके काल तक लक्षण-ग्रन्थों में लक्षण-निरूपण मात्र ही इनका प्रसङ्ग आता था और उसके पश्चात् इनमें से कुछ पर तो किसी ने भी लेखनी चलाने का साहस नहीं किया। महान् साहित्य सेवी कविवर वत्सराज ने स्वयं इन समस्त विधाओं का प्रणयन कर इनके सतत अभाव को दूर कर दिया। उन्होंने निम्नाङ्कित अष्टविध रचनाओं का प्रणयन किया :-

- [१] माण-कर्पूरचरित, [२] प्रहसन-हास्यचूड़ामणि,
[३] डिम-त्रिपुरदाह, [४] व्यायोग-किरातार्जुनीय,
[५] समवकार-समुद्रमन्थन, [६] वीथी-माधवी,
[७] अङ्क-शर्मिष्ठायाति, [८] ईहामृग-रुक्मिणी-हरण।

इन अष्टविध रचनाओं में से दो—‘माधवी’ और ‘शर्मिष्ठायाति’ कालकवलित अथवा अप्रकाशित हैं। शेष षड्रूपकों का एक संग्रह रूपक षट्कम् के नाम से ‘माधववाड ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदा’ से सन् १९१८ तथा १९७२ में प्रकाशित हुआ। इन

षड्रूपकों में त्रिपुरदाह, ‘समुद्रमन्थन’ और ‘रुक्मिणीहरण’ उक्त विधाओं में क्रमशः डिम, समवकार और ईहामृग ही एक मात्र उपलब्ध रचनाएँ हैं। वत्सराज ने यदि इन विधाओं का प्रणयन न किया होता, तो हम इन विधाओं के अध्ययन में लक्षण ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाते और लक्ष्य ग्रन्थों का दर्शन भी न हो पाता। अतः अप्रचलित रूपकों के प्रणेता वत्सराज का महत्त्व संस्कृत रूपकों के इतिहास में अप्रतिम है। यद्यपि आधुनिक संस्कृत कवियों का ध्यान इस ओर गया है और अब ईहामृगादि अप्रचलित रूपकों का प्रणयन भी प्रारम्भ हो गया है, किन्तु उनमें लक्षणों का सम्यक् निर्वाह न हो पाने से नीरसता दिखाई पड़ती है। वे केवल अभाव-पूर्ति (खाना पूर्ति) मात्र लगते हैं। अतः संस्कृत शोध निबन्धों में उनकी नाट्य-शैली का परीक्षण कर उनकी महत्ता को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया जायगा। शैली ही किसी कवि की विदग्धता की कसौटी (निकष) है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य के अनुकरण पर अर्वाचीन भारतीय साहित्य में भी ‘शैली’ पद का अत्यधिक प्रयोग मिलता है, किन्तु पुरातन साहित्य में प्रायः इसे ‘रीत’ पद से व्यवहृत किया गया है। संस्कृत-साहित्य में सर्वप्रथम महाभाष्यकार ने ही ‘शैली’ पद का प्रयोग किया है—(‘एषा आचार्यस्य शैली लक्ष्यते...’)। तदनन्तर मुक्तबोध की टीका में दुर्गादास ने भी ‘शैली’-पद का व्यवहार किया है (‘प्रायेणाचार्यामियं शैली मतसामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति’)

शैली का अभिप्राय अभिव्यक्ति-प्रकार अथवा विशिष्टताओं से है, जो किसी कवि को अन्य कवियों से

पृथक्, उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट सिद्ध करती हैं। शैली में साम्प्रदायिक तथा क्षेत्रीय विशेषताएँ भी समाहित होती हैं। प्रकृत-शोध-पत्र में शैली के अन्तर्गत रीति, अलङ्कार तथा छन्देतर वत्सराज की नाट्य-शिल्प-सम्बन्धी विषय-निष्ठ विशेषताओं का उल्लेख किया जायगा। 'रीति' के साथ ही साथ 'वृत्ति' का भी प्रयोग मिलता है, अतः 'रीति और वृत्ति' गत अन्तर की जिज्ञासा स्वाभाविक है। मम्मट के अनुसार 'वृत्ति और रीति' एक है तथा वे रस की 'पोषक' हैं।¹² राजशेखर ने रीति को 'वचन-विन्यासक्रम' तथा वृत्ति को 'चेष्टा विन्यासक्रम' बताते हुए दोनों में विभेद माना है।¹³ आनन्दवर्धन ने उद्भट द्वारा उल्लिखित परुषा, कोमला आदि शब्दाश्रित वृत्ति तथा कशिकी आदि को अर्थाश्रित वृत्ति माना है।¹⁴ शब्दाश्रित वृत्ति को रीति से अभिन्न माना जा सकता है। वस्तुतः दोनों की सह-स्थिति ही काव्य अथवा नाट्य में अपूर्व शोभाधायिनी है।

भारतीय परम्परा में शैली के स्थान पर 'रीति' पद व्यवहृत हुआ है। वामन ने विशिष्ट पद रचना को रीति की संज्ञा से अभिहित किया है :-

'विशिष्टा पदरचना रीतिः विशेषो गुणात्मा'। भोज के अनुसार 'रीति' पद गमनार्थक रीड (री) धातु से 'क्तिन्'-प्रत्यय करने पर व्युत्पन्न होता है।¹⁵ अतः 'रीति' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-मार्ग, गति, गमन-प्रकार अथवा पद्धति है। 'रीति' की लोक-प्रियता का श्रेय वामनाचार्य को है, उनसे पूर्व रीति के स्थान पर 'मार्ग' पद का ही प्रयोग मिलता है।

'रीति' के आधार पर काव्य के वर्गीकर्त्ता को 'अमेधस्' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आचार्य भामह के अनुसार वैदर्भी अथवा गौडीय को काव्य की उत्कृष्टतापकृष्टता का मानदण्ड मानना गतानुगति है। वैदर्भी नाम से अभिहित काव्य भी अनुत्कृष्ट अथवा हीन और गौडीय भी उत्कृष्ट तथा उत्तम हो सकता है।¹⁶ उन्होंने देश-भेद के आधार पर काव्य शैली-भेद को असङ्गत तथा व्यर्थ माना है। कुन्तक ने भी भामह की बातों का पूर्ण समर्थन करते

हुए कहा है कि रचनाओं के कारण शैली में भी विभिन्नता होगी, और इस प्रकार रीतियाँ अनन्त होंगी।¹⁷ साथ ही एक स्थानीय दो कवि परस्पर भिन्न शैली का प्रयोग करते हुए दृष्टिगत होते हैं, अतः देशधर्म के रूप में किसी 'रीति' को स्वीकार कर उसी में उस देश के सभी कवियों का काव्य प्रणयन असम्भव है। रीति के जिस आनन्त्य की आशङ्का कुन्तक ने की उसकी पुष्टि भोज द्वारा उल्लिखित 'रीति' के षड्भेदों-वैदर्भी, पाञ्चाली, गौडी, अवन्तिका, लाटी, और मागधी से होती है।¹⁸

इस प्रकार वैदर्भी और गौडी का अन्तर पूर्णतः स्पष्ट है, पाञ्चाली मध्यवर्तिनी है, और इसे भी किसी तरह स्वीकार किया जा सकता है, पर अन्यत्र इसका साङ्ग्य अनिवार्य है। अतः दण्डी ने दो गौडी और वैदर्भी का ही निर्देश किया है। दोनों के भेद को प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने वैदर्भी के प्राणस्वरूप दश गुणों का उल्लेख किया है और गौडीय में गुणों का विपर्यय प्राप्त होता है।¹⁹ अभिप्राय यह है कि वैदर्भी समस्त गुणों से युक्त है, तो गौडी उनसे रहित।

बाण मट्ट ने रीति को प्रदेश के आधार पर निर्धारित किया है—

“श्लेषत्रायमुदीच्येणु प्रतीच्येण्वर्थमात्रकम् ।

उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेण्वक्षरडम्बरः ॥”

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में एक देश के कवियों में काव्यगत समान गुण, धर्म एवं विशेषताएँ पायी जाती रही होंगी, और कालान्तर में एक देश के ही कवियों में अनेक रीतियाँ पायी जाने लगी होंगी। इस प्रकार वैदर्भी विदर्भ तक ही सीमित न रहकर एक विशिष्ट प्रकार की असमस्त मधुर शैली की सार्वदेशीय 'रीति' की बोधिका हो गई।²⁰ गौडी रीति भी गौड प्रदेश तक ही सीमित न रहकर ओज प्रकाशक वरुणों से निबद्ध समास बहुल रचना की संज्ञा बन गयी होगी।²¹

मधुर सुकुमार वरुणों से युक्त पाँच छः पदों के समास से युक्त शैली विशेष 'पाञ्चाली रीति' की संज्ञा से अभिहित की गयी।²²

महाकवि वत्सराज की शैली में वैदर्भी तथा गौडी दोनों रीतियाँ उपलब्ध होती हैं। उनकी गद्य-रचना प्रसाद गुण सम्पन्न है। अधोऽङ्कित गद्यांशों में उनकी यह विशेषता सुस्पष्ट है—

“एतया किल सा भगवती भवानीमुपवीणयति ।”¹³

प्रायः वत्सराज के पद्यों में ‘गौडी रीति’ का विधान है, किन्तु कहीं भी सन्तुलन का अभाव परिलक्षित नहीं होता। दीर्घ छन्दों में रचना करने की प्रवृत्ति तो उनमें है ही, साथ ही साथ उनमें माधुर्य एवं ओज की अतिशयता भी नहीं है। शार्दूलविक्रीडित इनका प्रियतम छन्द है। इनके पद्यों में वीर-रस के प्रकरण में पुरुषवर्णन टवर्गादि का बहुल प्रयोग मिलता है। प्रातः कालीन अस्तंगम्यमान चन्द्रमा का वर्णन करता हुआ सूत्रधार कहता है, कि जिस समय चन्द्र उदित हो रहा था, उस समय उसकी किरणें जूही की माला सदृश काम-वासना का सञ्चार कर रही थीं, किन्तु अस्तकाल में वे ही किरणें वृद्धावस्था के कारण पके हुए (पलित) केशपाश का दृश्य उपस्थित कर रही हैं।¹⁴

दर्शक परिषद् की प्रशंसा में सूत्रधार कहता है कि यह परिषद् औदार्य, ज्ञान तथा सौजन्य से परिपूर्ण है, कवि वत्सराज भी रस-परायण काव्य के प्रेमी हैं, तथा नटवर्ग भी अभिनय में परम निष्णात है।¹⁵

इन दोनों पद्यों में टवर्ग बहुलता उल्लेखनीय है।

पुनः ‘कपूरचरित’ के नाट्यी पाठ में ‘ओजोगुण’ के व्यञ्जक वर्णों का प्रयोग द्रष्टव्य है।¹⁶ कविवर वत्सराज वैदर्भी तथा गौडी रीतियों के गुम्फन में पर्याप्त सन्तुलन का निर्वाह नहीं कर पाये हैं। यह त्रुटि उनकी पद्य-रचना में स्पष्ट लक्षित होती है। उनकी गद्य-रचना प्रसाद गुण सम्पन्न है।

अलङ्कार, कविता-कामिनी की शोभा को निखारने एवं उसकी श्री-वृद्धि में सहायक होते हैं, अतः प्रत्येक कवि अलङ्कार-योजना में तत्पर दृष्टिगोचर होता है। वैसे भी अलङ्कार का सर्वत्र महत्त्व निर्विवाद है, और काव्य के क्षेत्र में तो वह अनिवार्य है, क्योंकि मम्मट आदि आचार्यों के अनुसार अलङ्कार के अभाव में काव्य असम्भव है—‘तददोषौ शब्दार्थे सगुणावनलङ्कृती पुनः

क्वापि ।” यहाँ ‘अनलङ्कृती पुनः क्वापि’ का यही सन्तव्य है। हाँ, अलङ्कार को ही काव्य की आत्मा या सर्वस्व कहना अतिवाद होगा। अतः कवि को उक्ति वैचित्र्य और शब्द-क्रीडा मात्र में उलझना नहीं चाहिये और न ही अलङ्कार के लिये काव्य-प्रणयन करना चाहिये, क्योंकि अलङ्कारों के हठपूर्ण प्रयोग से काव्य नीरस एवं शुष्क पाण्डित्य तथा वैचित्र्य का विषय हो जाता है। अलङ्कार स्वतः कविता-वनिता को सजाने के लिए प्रस्फुटित हो जाते हैं।

वत्सराज ने स्वभाविक अङ्कार-योजना की है। अतः इनके काव्य की रोचकता उत्तरोत्तर द्विगुणित होती जाती है उनके प्रिय अलङ्कार निम्नवत् हैं :—

शब्दालङ्कार—

वत्सराज ने शब्दालङ्कारों में अनुप्रास एवं यमक का अत्यधिक प्रयोग किया है। वस्तुतः ‘रूपक षट्कम्’ के प्रत्येक पद में कोई न कोई शब्दालङ्कार अवश्य है। यद्यपि वत्सराज जैसे अनधीत (अपठित) कवि के प्रत्येक काव्य-ग्रन्थ एवं पद्य का पृथक्शः अलङ्कार परक अध्ययन किया जाना चाहिये, किन्तु प्रस्तुत शोध-पत्र के कलेवर को ध्यान में रखकर यहाँ कतिपय दृष्टान्त मात्र दे पाना सम्भव है।

अनुप्रास—“वर्णसाम्यमनुप्रासः”—काव्यप्रकाश की

इस परिभाषा के अनुसार वर्ण-समता को अनुप्रास कहते हैं। अनुप्रास के अन्तर्गत छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

संख्या नियत होने पर (दो व्यञ्जन समुदायों में पारस्परिक अनेक बार सादृश्य होने पर) छेकानुप्रास होता है।¹⁷ यथा—

सा पातु वरत्र्यम्बकचुम्बितायाः,

कपोलपाली चिरमम्बिकायाः ।

प्रगल्भरोमाञ्चभरेण यस्याः,

पुष्पायुधोऽभूत्क्षणमङ्कुरास्मः ॥

—किरातार्जुनीय-१

प्रस्तुत स्थल पर म, ब की तीन बार म, र की दो बार आवृत्ति हुई है, अतः छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास—

“मनसिजमयभावेर्भावितध्यानमुद्रा ।

वितरनु रुचितं वः शास्त्रवी दम्भभङ्गिः ॥

रुक्मिणीहरण—१

यहाँ क्रमशः म,म,त,म की आवृत्ति है, अतः वृत्यनुप्रास है । यहीं म्म-म्म में छेक भी है, अतः छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास की संसृष्टि भी अवलोकनीय है ।

यमक—

सार्थक होने पर मित्रार्थ एवं सार्थक-निरर्थक स्वर व्यञ्जन समुदाय की क्रमशः आवृत्ति को यमक अलङ्कार कहते हैं ।^{१७} यथा—

मुरारिमारुतस्फीतो धनञ्जयधनञ्जयः ।

किरात २१

यहाँ प्रथम धनञ्जय का अर्थ ‘अर्जुन’ और द्वितीय धनञ्जय का अर्थ ‘अग्नि’ है, अतः मित्रार्थक यौगिक है ।

वीप्सा—आदर-सम्मान, भयातङ्क आश्चर्य, घृणा, रोचकता के प्रदर्शनार्थ किसी पद की आवृत्ति ‘वीप्सा’ है ।^{२०} वीप्सा अलङ्कार का उल्लेख संस्कृत के आचार्यों ने नहीं किया है । भावों की प्रभावकारिता के लिए पदों की आवृत्ति की जाती है । वत्सराज को ‘वीप्सा’ प्रिय है । जैसे—

उन्मुच्य दूरमपयाति यथा यथेयं

—‘हास्यचूडामणि’ १।४

वक्रोक्ति—श्लेष अथवा काकु के माध्यम से वक्ता के वचन का श्रोता द्वारा अन्याथावबोध ‘वक्रोक्ति’ है ।^{२१} उदाहरणार्थ—

“त्वयार्चितो यो नयनाम्बुजेन

चकार यः सर्वजगत्प्रभुं त्वाम् ।

गौरीव येनार्हतनी धृतस्त्वं

स्थानुः स शीरे ! हसनीय एव ॥”

त्रिपुरदाह-२।६

यहाँ “शीरे ! स्थानुः स हसनीय एव ॥”—में काकु वक्रोक्ति है ।

श्लेष—श्लेष पदों से अनेकार्थ की अभिव्यक्ति को श्लेष कहते हैं । इसके अमङ्ग और समङ्ग दो भेद होते हैं । अमङ्ग उस श्लेष को कहते हैं, जिसमें पदच्छेद (भङ्ग) बिना अनेक अर्थ निकलते हैं ।^{२२} यथा—

वाचालत्वंपाटलग्नो मञ्जीरः कुरुतां चिरात् ।

कर्पूर एव सर्वाङ्गसङ्गसौभाग्यभाजनम् ॥१६॥

—कर्पूरचरित, पृष्ठ-२६

प्रस्तुत श्लोक में ‘मञ्जीर और कर्पूर’ श्लेष पद हैं । मञ्जीर के दो अर्थ—(१) मञ्जीरक और (२) तूपुर तथा कर्पूर के दो अर्थ—(१) कर्पूरक और (२) कर्पूर हो रहे हैं; अतः अमङ्ग श्लेष है ।

अर्थालङ्कार—वत्सराज ने निम्नाङ्कित अर्थालङ्कारों का बहुप्रयोग किया है—

उपमा—एक वाक्य में दो पदार्थों (उपमानोपमेय) के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहते हैं ।^{२३} जैसे—

(१) “अप्यहो परिचयक्रमवाह्ये स्निह्यतीह पितरीव ममात्मा ॥”

(२) पुष्टापि रक्षितापि प्रयत्नतो दानविरहिता लक्ष्मीः ।
गौरिव बन्ध्या भूता भवति परं कष्टदा गृहिणः ॥
यहाँ “पितरीव तथा गौरिव” पदों में उपमा है ।

मालोपमा—यदि एक उपमेय के अनेक उपमान हों, तो ‘मालोपमा’ अलङ्कार होता है ।^{२४} यथा—

ब्रह्मवाह मरणमथवा जीवित वेदि जन्तोः

स्वामीवाहं परहृतधनं क्षमातलादुद्धरामि ।

लोकस्याहं सकलचरितान्यन्तरात्मेव जाने

चौरैर्लुप्त स्वमिव धृत वस्त्वहं प्रापयामि ॥

हास्यचूडामणि-२०, पृष्ठ-१२७

प्रस्तुत स्थल पर एक उपमेय ‘अहं’ के ब्रह्म, स्वामी, अन्तरात्मा और स्वयं—इत्यादि अनेक उपमान हैं, अतः यह ‘मालोपमा’ का उदाहरण है ।

रूपक—उपमानोपमेय की अभेद स्थिति में ‘रूपक’ अलङ्कार होता है ।^{२५} उदाहरणार्थ—

‘मुरारिमास्तस्फीतो धनञ्जयधनञ्जयः ।

यहाँ ‘मुरारि’ उपमेय तथा ‘मास्त’ उपमान में अभेद के कारण ‘मुरारिमास्त’-पद में, तथा ‘धनञ्जय (अर्जुन)’ उपमेय तथा ‘धनञ्जय (अग्नि)’ उपमान में अभेद के कारण ‘धनञ्जयधनञ्जयः’ पद में रूपकालङ्कार है । ध्यातव्य है, कि ‘धनञ्जयधनञ्जयः’ पद में स्वल्पञ्जन समुदाय की आवृत्ति तथा सार्थकता की स्थिति में मिन्नार्थता (अर्जुन और अग्नि रूप) के कारण यमक अलङ्कार भी है, अतः यहाँ दोनों अलङ्कारों की ‘संमृष्टि’ है ।

उत्प्रेक्षा—सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

—काव्यप्रकाश-१०।१३७

इस परिभाषा के अनुसार समान (उपमान) के साथ प्रकृत उपमेय) के ऐक्य की सम्भावना को उत्प्रेक्षा की अभिधा से अभिहित करते हैं । उदाहरण के लिए—

कि कथ्यते श्रवणमात्रपरिग्रहेऽपि
दत्तोत्सवा दनुजवैरिणिरुक्मिणी सा ।

आलोकितेव निकटानिकटीकृतेव
सोत्प्रासचाटुवचनैरनुमोदितेव ॥

प्रकृत उदाहरण में ‘रुक्मिणी’ रूप प्रकृत उपमेय) और “आलोकिता, निकटानिकटीकृता, अनुमोदिता’ रूप समान (उपमान) के साथ ऐक्य की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षालङ्कार है ।

अर्थान्तरन्यास—जहाँ साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्य और विशेष का परस्पर समर्थन होता है—अर्थात् सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन होता है, वहाँ ‘अर्थान्तरन्यास’ अलङ्कार होता ।²⁶ जैसे—

“उत्सङ्गे सिन्धुभर्तुर्वसति मधुरिपुर्गामिश्लष्य लक्ष्मी-
मध्यास्ते वित्तनाथोनिधिवहमुपादाय कैलासशैलम् ।

शक्रः कल्पद्रुमादीन्कनकशिखरिणोऽधित्यकानुन्यधासी-
द्धत्तैर्म्यस्त्रासमित्थ दधतिद्विविषदोमानवाः के वराकाः ॥”

—कपूर्वचरित, पृष्ठ-२४

यहाँ ‘धूर्तैर्म्यस्त्रासमित्थमित्यादि’—अन्तिम पंक्ति सामान्यवाक्य है, जिसका समर्थन विशेष रूप तीनों पंक्तियों द्वारा हुआ है, अतः यह अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है ।

विभावना—विभावनालङ्कार में कारण (हेतु) विना कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है ।²⁷ जैसे—

“आश्चर्ययत्यदह ! काचिदकर्तृकैव

नाराचवृष्टिरियमम्बरतःपतन्ती ।

तारुण्य एव तरणेरयमप्युदञ्चन्

कार्तान्तिकासरगलच्छविरन्धकारः ॥”

—रुक्मिणीहरण-४।१८ पृष्ठ-७१

यहाँ आकाश से आकर वाग्न-वर्षा का वर्णन है, अतः यह ‘विभावना’ का उदाहरण है ।

इनके अतिरिक्त सन्देह, विरोधाभास, उल्लेख, स्वभावोक्ति, काव्यलिङ्ग, परिसंख्या, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, यथासंख्य, सङ्कर आदि अलङ्कारों का बहुलप्रयोग इनके ग्रन्थों में पदे-पदे मिलता है ।

छन्दःयोजना

महाकवि वत्सराज का छन्दः शास्त्रीय ज्ञान भी अत्यन्त प्रकट था । उन्होंने छन्दः योजना में उत्कृष्ट सफलता प्राप्त की है, उनका शार्दूलविक्रीडित-प्रयोग प्रशस्त है । विशेषतः वत्सराज में दीर्घ छन्दों के प्रति आग्रह या विशेष-प्रेम परिलक्षित होता है । ‘रूपकषट्कम्’ का कमसे कम अष्टम भाग ‘शार्दूलविक्रीडित छन्द’ में निबद्ध है । तत्पश्चात् वसन्ततिलका, शिखरिणी, मालिनी, सगंधरा आदि दीर्घ छन्दों को स्थान मिला है । अन्य छन्दों में हरिणी, मन्दाक्रान्ता, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति भी उल्लेखनीय हैं । मन्दाक्रान्ता का प्रयोग प्रायः करुण या विप्रलम्भ शृङ्गार की विवृत्ति में मिलता है । मन्दाक्रान्ता में ४ और ६ वर्णों पर ‘यति’ के कारण छन्द में अपेक्षित गति-शिथिलता आ जाती है, परन्तु वत्सराज ने मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग बलराम की उद्धत उक्तियों की अभिव्यक्ति में करके गतिशिथिलता को दूरकर गति-शीलता प्रदर्शित की है । यह उनकी छन्दः शास्त्रीय

प्रतिभा की उपलब्धि है। शादूलविक्रीडित के प्रयोग में तो उन्होंने पर्याप्त वैदग्ध्य एवं सफलता प्राप्त की है। यदि 'शादूलविक्रीडितं वत्सराजे विशिष्यते।' कहा जाय, तो कोई अनौचित्य नहीं होगा। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है :-

१-शादूलविक्रीडित--

मृयाश्चैवैदि मःसजौ सततगाः शादूलविक्रीडितम्

म स ज स त त ग
SSS IIS IS.I IIS SSI SSI S-

शाकुन्तान्वयजा वयं नहि नहि व्यापारयामः शरान्
'किरातार्जुनीय'-४५, पृष्ठ-१६

यतः प्रस्तुत श्लोक में 'मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण तथा गुरु' की प्राप्ति हो रही है, अतः यह 'शादूलविक्रीडित' का उदाहरण है।

अस्मैर्धाना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।

म र म न य य य
SSS S I S S I I I I I I S S I S S I S S

आप्रत्युषप्रदोषं विपिनविहरणैरामिवाहारकारः।

—'किरातार्जुनीय'-४२, पृ० १५

प्रकृत श्लोक में 'मगण, रगण, मगण, नगण, तथा तीन यगण' की प्राप्ति हो रही है, अतः यह 'स्रग्धरा' नामक छन्द का उदाहरण है।

भावों की अभिव्यञ्जना में वत्सराज पहुँचे ३ए कवि हैं। मानव अनुभूति के वे कुशल चित्रकार हैं। भावों की गम्भीरता को तदनुकूल पदांशों में अभिव्यक्ति करने में वे परम प्रवीण अनुपम कवि हैं। वे भावों के वर्णन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक सहज स्निग्धपदों में प्रस्तुत करते हैं। 'हास्यचूडामणि' में ज्ञान-राशि का अन्तस्ताप, 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन की अत्मश्लानि, 'समुद्र मन्थन' में कृष्ण का अन्तर्द्वन्द्व तथा 'रुक्मिणीहरण' में बलराम की उद्विग्नता और शीघ्रता को चित्रित करने में कवि ने कलम तोड़ दी है। वत्सराज का बिम्बविधान अनुपम है।

वत्सराज की शैली की विशेषता है-परिस्थिति के अनुकूल भावों में मोड़। वत्सराज के सम्वाद सुगठित, सुगुम्फित, सरस, सारगर्भित और साभिप्राय (सोद्देश्य) होते हुये भी संक्षिप्त, सटीक एवं विषय संगत हैं। इनकी शैली में उक्ति-प्रत्युक्तिजन्य वैदग्ध्य के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

वत्सराज के ग्रन्थों में प्रकृति नाना रूपों में उभरी है। उन्हें प्रकृति का केवल सुकुमार रूप ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु उग्र, भयकर, तथा उदीपक रूप भी। फलतः उनकी शैली चमत्कारिणी एवं हृदयहारिणी हो गयी है। उदाहरण स्वरूप 'समुद्रमन्थन' में 'वेलावन' 'किरातार्जुनीय' में 'वराह-वर्णन' 'त्रिपुरदाह' में त्रिपुरचित्रण तथा 'हास्यचूडामणि' में वसन्त-वर्णन द्रष्टव्य हैं।

वत्सराज की शैली में 'आरम्भटी' तथा 'शीडो' रीति के चित्र भी प्राप्त होते हैं, किन्तु इनके प्रयोग में उन्होंने रस, भाव, पात्र, देशकाल का पूर्ण ध्यान रखा है। इनकी कविता में ध्वन्यात्मकता भी कूट कूट कर भरी है। इनकी शैली में अतः कथाओं के प्रति रोचक सकेत, तर्क, व्यङ्ग्य, एवं सूक्ष्मभाव-गाम्भीर्यमिश्रित सूक्तियाँ मिलती हैं। इनकी कविता में लोकोक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं, जो उनकी बहु-ज्ञता एवं लोकानुभूति की प्रमाण हैं। कतिपय अतिहृद्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं:-

१- "ध्रुव क्रुद्धः कालो विघटयति सद्बुद्धिमचिरात्।"

[रुक्मिणी हरण-१८]

२- सिद्ध्यन्ति कामाः बलितां बलेनलोकास्थितिः

किन्तु न लघनीया- [रुक्मिणीहरण-२। १२]

वत्सराज सरल तथा सरस काव्य-सरणि (पद्धति अथवा रीति) के पक्षधर हैं। इनकी शैली में रसपेश-लता, भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति, मनोरञ्जकता, गाम्भीर्य, औदात्य, माधुर्यादि का अद्भुत सम्मिश्रण है। हास्य की सम्यक् संयोजना, अनुपम वाक्य संघटना, अकृत्रिमता इनकी शैली की अपरिहार्य विशेषताएँ हैं।

संक्षेप में वत्सराज में कालिदास की कमनीयता और मधुरता, भवभूति की विस्तृत क्लिष्टता एवं उदात्तता तथा भास की सरलता और सरसता का अनुपम

सम्मिश्रण है। नाट्यकला की चमत्कृत प्रौढ़ता तथा लघु समास युक्त प्रौढ़ पद-शय्या वत्सराज की शैली के सहज गुण हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वत्सराज केवल अप्रचलित रूपक प्रणेता के रूप में ही नहीं, अपितु कुशल महाकवि के रूप में भी परम स्पृहणीय हैं।

संदर्भ:-

- १- दशरूपक, १।८।
- २- काव्यप्रकाश, ६।८०-८१।
- ३- काव्यमीमांसा, पृ० २१।
- ४- ध्वन्यालोक, ३।४८।
- ५- सरस्वतीकण्ठाभरण, २।५१।
- ६- काव्यालंकार, पृ० ३३।
- ७- वक्रोक्तिजीवित, पृ० ६६।
- ८- सरस्वतीकण्ठाभरण, २।५२।
- ९- काव्यादर्श, ११।४१-४२।

- १०- साहित्य दर्पण, ६।२-३।
- ११- वही, ६।३-४।
- १२- वही, ६।४।
- १३- कर्पूरचरित, पृ० २६।
- १४- हास्यचूडामणि, पृ० ११८।
- १५- वही, पृ० ११६।
- १६- कर्पूरचरित, पृ० २३।
- १७- अलंकार सर्वस्व, पृ० ५।
- १८- साहित्य दर्पण, १०।८।
- १९- अलंकार मुक्तावली, पृ० १७।
- २०- साहित्य दर्पण, १०।६।
- २१- वही, १०।११।
- २२- वही, १०।१४।
- २३- वही, १०।२६ पूर्वार्ध।
- २४- काव्यप्रकाश, १०।१२६।
- २५- वही, १०।१६५।
- २६- साहित्य दर्पण, १०।६६।



हिमांचल में शैवधर्म का विकास

—डॉ० लालता प्रसाद पाण्डेय

इस प्रदेश में वैदिक धर्म बहुत पहले से प्रचलित था, यह तो साधारण अनुमान का विषय है, क्योंकि वैदिक संहिताएँ इसी क्षेत्र से मिले हुए मैदानी भागों में लिखी गईं। लेकिन उस पर अधिक प्रकाश डालने के लिए कोई सही स्रोत उपलब्ध नहीं है। हमने पहले ही लिखा है कि प्राचीन काल में वैदिक आर्य यहाँ की घाटियों में अवश्य रहते थे, अतएव उन्होंने अपने धर्म को इस क्षेत्र में फैलाया। यहाँ एक साक्ष्य का उल्लेख किया जा सकता है जिससे यह मालूम होता है कि अथर्ववेद में विश्वास करने वाले लोग इस क्षेत्र में रहते थे। सातवीं शताब्दी ई० में लिखाये गये निर्मण्ड अमिलेख में अथर्ववेद में विश्वास रखने वाले ब्राह्मणों का उल्लेख है जो कुलू घाटी में रहते थे। वे प्राचीन वैदिक आचार्यों के वंशज थे ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी। इससे यह पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र का सबसे प्राचीन धर्म वह धर्म था जिसका उल्लेख वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा सूत्र साहित्य में मिलता है।

वैदिक धर्म कर्मप्रधान धर्म था। इसमें विश्वास रखने वाले लोग विविध प्रकार के देवों की स्तुति करते थे जो प्रकृति के किसी न किसी रूप के दैवीकृत साव थे। इनके लिए यज्ञ किये जाते थे जिनमें पशुओं की बलि भी चढ़ाई जाती थी। ऐसा धर्म यहाँ की अन्य प्राचीन आदि जातियों के धार्मिक कर्मों से भी मिलता-जुलता था जिसमें जादू-टोना आदि का बाहुल्य था। पहाड़ी घाटियों, जंगलों, पेड़-पौधों तथा प्रकृति के अन्य अंगों के पीछे किसी न किसी शक्ति या आत्मा में विश्वास किया जाता रहा होगा और उसके लिए बलि चढ़ाई जाती रही होगी, जैसा कि किसी भी

आदिम जातियों के धर्म में प्रचलित रहता है। ऐसी धार्मिक मान्यताएँ आज भी उन आदिम जातियों में पाई जाती हैं जो मास के इस क्षेत्र में या अन्य भागों में पाई जाती हैं।

इस क्षेत्र में प्रचलित धर्म की सही ऐतिहासिक रूपरेखा का ज्ञान छठीं शताब्दी ई० पू० से होने लगता है। क्योंकि साहित्य में यत्र-तत्र उसका उल्लेख है और पुरातात्विक स्रोतों से उस पर सीधा या विषयान्तर से प्रकाश पड़ता है। हमने पहले ही लिखा है कि छठीं शताब्दी ई० पू० में ही यहाँ के कुछ भागों में बौद्ध धर्म का प्रसार हो गया था और इसकी भी जोरदार सम्भावना है कि शैवधर्म में विश्वास रखने वाले लोग भी इस क्षेत्र के कुछ भागों में फैलने लगे थे। हो सकता है कि इसमें सैन्धव घाटी संस्कृति का कुछ हाथ रहा हो, जैसा कि हमने पहले ही लिख रखा है। प्राचीन त्रिगर्त अर्थात् कांगड़ा और आसपास के क्षेत्र शैवधर्म के प्रधान स्थान थे और उसका विस्तार शिमला, सिरमौर तथा किन्नौर के क्षेत्रों में भी हो गया था। इसके प्रमाण ई० पूर्व शताब्दियों में प्रचलित उन सिक्कों से है जो इस क्षेत्र में विकसित राज्यों द्वारा चलाये गये थे। जिनमें त्रिगर्त, उदुम्बरों, कुनिन्दों तथा योथेयों के गणराज्य प्रमुख थे।

इनके सिक्कों पर विभिन्न प्रकार के प्रतीक अंकित हैं जिनमें कुछ तत्कालीन शैवधर्म के परिचायक हैं। उदुम्बरों के सिक्कों पर वृषभ, त्रिशूल तथा कुठार के रूप अंकित है जो शैवधर्म से सम्बन्धित हैं। वृषभ भगवान् शिव का वाहन रहा है और अन्य दो प्रतीक उसके अस्त्र हैं। इनसे शैव धर्म का प्रचार

और उससी लोकप्रियता स्पष्ट प्रकट है। इसी तरह इन सिक्कों पर ऐसे अभिलेख लिखाये गये हैं जिनमें शिव के विभिन्न नाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ राजाओं के नामों में रुद्रदास, शिवदास और महादेव वंशीय देवता शिव की ओर संकेत करते हैं। वास्तव में इस गणराज्य का प्रधान देवता शिव था जिसे सम्पूर्ण राज्य समर्पित था जैसा कि उसके सिक्कों और उन पर लिखे अभिलेखों से ज्ञात होता है। इनमें विशेष करके “भागवत महादेवस्” लेख उल्लेखनीय है जिसमें वह ईश्वर और सर्वोपरिदेवता के रूप में कल्पित है। वही राज्य की सुरक्षा के लिये जिम्मेदार था। उसके अनुयायी ‘भागवत’ कहलाते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) शैव-भागवतो का उल्लेख करता है। वास्तव में ई० पूर्व इन शताब्दियों में भक्तिमार्ग मोक्ष का प्रधान साधन बन चुका था जिसमें भक्त ईश्वर के प्रति अपना समर्पण करता था। वह उसकी प्रतिमाएँ बनाता था और उसकी पूजा करता था। उसके विभिन्न प्रतीकों की भी पूजा प्रचलित थी।

इस काल में उसके लिए मन्दिरों का भी निर्माण होने लगा था, जैसा कि उस समय के लेखों से स्पष्ट प्रभावित होता है। विदिषा (मध्यप्रदेश) से मिले हेलियोडोरस के अभिलेख में देववर वासुदेव के लिए गरुडध्वज के निर्माण की सूचना मिलती है और घोमुन्डी (राजस्थान) से मिले अभिलेख में पूजा के लिए पुस्तर्निर्मित भवन का उल्लेख है। यह स्थिति द्वितीय शदी ई० पू० या उससे कुछ पहले की है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उदुम्बरों के एक प्रकार के सिक्कों पर एक मन्दिर का रूप निमित्त है जिसे कुछ विद्वानों ने ‘शिवमन्दिर’ माना है जिसका निर्माण शिवभक्त उदुम्बरों ने अपने राज्य के विभिन्न भागों में कराया था। यह आकृति देखने से यह मालूम होता है कि वह कई मंजिलों में बनाया जाता था और उसका रूप पैगोडा-शैली में बने मन्दिरों जैसा था जिनके कुछ उदाहरण कुलु-मनाली घाटी में आज भी मिलते हैं। इन मन्दिरों में गर्भगृह

के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ बनवाया जाता था। जिसमें चारों कोनों पर कम से कम चार स्तम्भ खड़े किये जाते थे जिन पर बरामदों का छत आधारित था। ये मन्दिर संभवतः काष्ठनिर्मित होते थे जैसा कि बाद में बने यहाँ के कुछ मन्दिरों में पाया जाता है। हो सकता है कि ऐसे शिवमन्दिर यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल में बनवाये जाते थे और वह परम्परा बाद में चलती रही।

ऐसे मन्दिरों में शिवलिंग स्थापित किया जाता था, इसके लिए प्रमाण उपर्युक्त सिक्के पर मिले एक प्रतीक में मिलता है। रेप्सन महोदय ने एक ऐसे ताम्र-निर्मित सिक्के का उल्लेख किया जिसके एक तरफ ‘लिंग’ का प्रतीक मिलता है और दूसरी तरफ एक बड़े पुरुष का रूप उत्कीर्ण है जिसके हाथ में एक त्रिशूल और कुठार दिखाया गया है। उसी तरफ ‘भागवत महादेवस्’ भी लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि शिव देवता लिंग रूप में प्रकल्पित था जो उत्पादन प्रक्रिया का प्रतीक था। उससे न केवल सन्तानोत्पत्ति की ही कामना की जाती थी वरन् उसकी पूजा स्तुति तथा उपसना से सांसारिक उलब्धियाँ भी वांछित थीं।

शिव लिंग की उपासना अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित थी। सिंधु घाटी-संस्कृति में तो उसकी उपासना होती ही थी, बाद में इसी सन् के आस-पस की शताब्दियों में वह भारत के अनेक भागों में प्रचलित हो गयी। यहाँ तक कि दक्षिण भारत में गुडिमल्लम से जो शिव लिंग मिला है, वह अत्यन्त प्राचीन शिव लिंग है। मथुरा से भी ऐसा ही एक अत्यन्त प्राचीन शिवलिंग मिला है। हम यह भी जानते हैं कि सम्पूर्ण उत्तर भारत में और हिमांचल में भी परवर्ती काल में बने शैव मन्दिरों में शिवलिंग की प्रतिष्ठा होती थी और वही शैव धर्मावलम्बियों की उपासना का प्रधान रूप था। वैसे उसकी कल्पना पुरुष रूप में बहुत पहले ही की जा चुकी थी जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। पशुपति शिव का रूप भिन्धु घाटी संस्कृति के काल में चलाई गई मुद्राओं पर मिलता है। इसका उल्लेख बाद के साहित्य में भी है, सम्भवतः इसीलिए द्वितीय शताब्दी ई० पू० में या उसके

कुछ पूर्व ही शैवधर्म में पाशुपत-सम्प्रदाय का विकास हुआ जिन्होंने संगठित होकर इस धर्म का प्रचार भारत के विभिन्न भागों में किया। इन्होंने भक्ति मार्ग का पालन किया। उसे देवेष्वर के रूप में मानकर उसकी उपासना की। सबकुछ उसे समर्पित करके मोक्ष की कामना की। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उदुम्बरी के पूर्ण विकास का काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० से लेकर द्वितीय शताब्दी ई० है; जिस समय महाभारत की रचना हुई और जिसमें भक्तिमार्ग का बार-बार वर्णन किया गया है। ध्यातव्य है कि गीता में वर्णित विषय की उत्पत्ति सम्भवतः इससे कुछ पूर्व हो गई थी। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी शैव, उपासकों और उनकी भक्ति का उल्लेख है। यही वह समय है जब पूजा-पद्धति का विकास हुआ और पौराणिक हिन्दू धर्म एक संगठित धर्म के रूप में चारों ओर फैलने लगा। इसी समय इसमें नये-नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिसमें शैव सम्प्रदाय प्रधान था।

हिमाचल में शैवधर्म का विकास कुनिन्दों के सिक्कों से भी जाना जा सकता है जो इस क्षेत्र से अधिक मात्रा में मिले हैं। इन पर भी अनेक शैव प्रतीक जैसे—‘नन्दिपद’ और सर्प मिलते हैं। कुनिन्दों के राज्य का प्रधान देवता शिव ही था जिसके लिए उदुम्बरों की तरह उनका भी राज्य समर्पित था। यहाँ उनके एक विशेष प्रकार के सिक्कों का उल्लेख किया जा सकता है जिन पर ‘भगवत् क्षत्रेश्वरमहात्मनः’ लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट रूप से प्रमाणित है कि कुनिन्दों के राज्य का प्रधान देवता शिव था और वे उसे क्षत्रेश्वर कहते थे जो सम्भवतः छत्र की तरह उनकी और उनके राज्य की रक्षा करता था। सम्भव है कि अमोघभूति या कुनिन्द गण राजाओं के काल में हिमाचल के दक्षिणी-पूर्वी भागों में उसके लिए अनेक मन्दिरों का निर्माण किया गया हो जो समय के कारण अब नहीं हैं।

योथेयो के सिक्कों से भी इस क्षेत्र में शैवधर्म के प्रसार के प्रमाण मिलते हैं। इन पर भी खड़ी शिव की आकृति मिलती है जिसमें वह एक हाथ में

त्रिशूल धारण किये हैं और दूसरे में कुठार लिए हैं तथा कमर में सम्भवतः मृगचर्म पहने हुए हैं। इसके अतिरिक्त सिक्कों पर इस धर्म के अन्य प्रतीक भी मिलते हैं जिनमें ‘नन्दी वृषभ’ प्रधान है।

भारत के इस क्षेत्र में इस समय शैव सम्प्रदाय का बड़ा विकास हुआ जान पड़ता है। शिव के पुत्र कार्तिकेय की भी पूजा अत्यधिक प्रचलित मालूम पड़ती है। सम्पूर्ण योथेय राज्य में वह बड़ा प्रिय देवता था और सम्भवतः योथेयों ने उसे अपना राज्य समर्पित कर रखा था। कार्तिकेय शक्ति और युद्ध का देवता माना जाता है। योथेयों ने एक तरफ शकों से लोहा लिया था और दूसरी तरफ कुषाणों को हराया था। अतएव बहादुर जाति में कार्तिकेय की पूजा का प्रचलन और विस्तार स्वाभाविक था। वह शिव के पुत्र रूप में कल्पित है जिसने राक्षसों (विदेशियों) के विनाश के लिए जन्म लिया था। उसे योथेयों का राज्य बड़ा प्रिय था और वह पूरे राज्य का देवता था जैसा कि महाभारत के सभापर्व में वर्णित है। इसके अतिरिक्त योथेयों के अधिकांश सिक्कों पर उसे खड़ा दिखाया गया है।

बैजनाथ कस्बे में बने बैजनाथ मन्दिर की महिमा का थोड़ा सा अन्दाज वहाँ पर होने वाले दान तथा उसके खर्चों से लगाया जा सकता है। वहाँ एक प्रशस्ति में लिखा है कि मन्दिर में एक पुरी (गर्भगृह) थी जिसे अद्यूतम कहते थे और उसके सामने एक मण्डप बना हुआ था जो अनेक मूर्तियों से सुसज्जित था जिनमें शिव के गण प्रमुख थे। मन्दिर के द्वार के दोनों तरफ गंगा और जमुना की मूर्तियाँ उकेरी गई थीं।

आज भी यह मन्दिर बैजनाथ कस्बे के उत्तर में नदी के समीप स्थित अपनी प्राचीन गरिमा की कहानी कहता हुआ खड़ा है। उसके चारों ओर प्राचीर-सीमा बनाने वाली दीवार मन्दिर की विशालता की परिचायक है जो पूर्व से पश्चिम में १२० फी० लम्बी और चौड़ाई में ६० से ७५ फी० विस्तृत है। इस मन्दिर में समय-समय पर कुछ विस्तार भी किये गये। उसमें बना पुजारी का कक्ष तथा उत्तर

और पश्चिम की तरफ बने छोटे-छोटे अन्य मन्दिर बाद में ही जोड़े गये मालूम पड़ते हैं। व्यूलर महोदय का मत है कि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार सात बार करवाया गया और १६७३ ई० में कांगड़ा के सम्राट संसारचन्द ने इसकी अच्छी तरह मरम्मत करवायी। कुछ भी हो यह मन्दिर अतीत काल से लेकर आज तक शैव धर्म का एक प्रधान केन्द्र बना रहा है और दूर-दूर से अपने भक्तों को समय-समय पर आमन्त्रित करता रहा है। आज भी वहाँ वर्ष में कई बार मेले लगते हैं।

वहीं पर एक दूसरा भी शिव मन्दिर स्थित है जो प्राचीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यह नगर में पश्चिमी किनारे पर बनवाया गया था। इसके अब सिर्फ खण्डहर मात्र ही मिलते हैं। व्यूलर ने पिछली शताब्दी में यहाँ उसके चार स्तम्भों वाले मण्डप को देखा था जो ३३ फी० लम्बा और २० फी० चौड़ा था। इसका शिखर ३५ फी० ऊँचा था। यह पूर्व की ओर खुलता था। इसके पीछे की तरफ दो द्वार थे जिनसे प्रदक्षिणापथ में जाया जा सकता था। इसके दो प्रस्तर निर्मित गवाक्ष बने थे जिनसे गर्भगृह में प्रकाश जाता था। इसके दक्षिणी दीवार में बने ताख पर व्यूलर ने एक प्रस्तर खन्ड देखा था जिसमें अभिलेख उत्कीर्ण था लेकिन दुर्भाग्य से वह मिट चुका था, अतएव पढ़ा नहीं गया। नहीं तो वैद्यनाथ मन्दिर की तरह इस मन्दिर के प्राचीन गौरव तथा उसके लिए दान में दिये गये दानों का ज्ञान हम कर सकते थे। यह मन्दिर अनेक मूर्तियों से सजा था जिसमें सूर्य की उस प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है जिसे व्यूलर ने देखा था।

लाहौल में स्थित त्रिलोकनाथ मन्दिर हिमांचल का दूसरा प्रधान शैव पीठ था। सौभाग्य से उसके अवशेष वहाँ अब भी मिलते हैं। यह सब बौद्धों का भी एक प्रधान धर्म-केन्द्र माना जाता है। मन्दिर में अब अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की पूजा की जाती है जिसकी प्रतिष्ठा सम्भवतः आठवीं शताब्दी में

तान्त्रिक बौद्ध आचार्य पद्म सम्भव ने की थी। जाहिर है कि शैव धर्म में आस्था रखने वालों की संख्या धीरे धीरे कम हो गई और बौद्ध धर्म का प्रसार अधिक हुआ जिससे शैव केन्द्र को बौद्ध धर्म केन्द्र में परिवर्तित कर दिया गया। फिर भी प्राचीन मूल धर्म का जो शैव धर्म था, मूलोच्छेदन न हो सका, क्योंकि शैव हिन्दुओं की संख्या यहाँ की घाटी में कम न थी। परिणामतः मन्दिर का नाम यथावत् बाद में भी चलता रहा और यह शैव केन्द्र इतिहास की आँधी और तूफान को जूझता हुआ आज तक अपने को बचाता रहा।

यह इस क्षेत्र के शैव धर्म एवं कला का एक प्रधान केन्द्र था। वैसे कला की दृष्टि से मन्दिर अधिक सुन्दर नहीं है लेकिन प्राचीन होने के कारण वह अब भी बड़ा महत्वपूर्ण है। वह यहाँ की पहाड़ी मन्दिर शैली में निर्मित है जहाँ हिन्दू और बौद्ध आज-कल एक साथ पूजा करते हैं। वहाँ के वार्षिक मेलों में दोनों वर्गों के लोगों की भीड़ होती है।

हिमांचल के अन्य शैव क्षेत्रों और केन्द्रों में चम्बा और भरमौर तथा वहाँ के प्राचीन मन्दिरों का उल्लेख करना अनिवार्य है। यहाँ हिमांचल के शैव मन्दिर सबसे अधिक संख्या में पाये जाते हैं। इनमें से अनेक की सूचना तो वहाँ प्राप्त अभिलेखों से मिलती है और अनेक शैव मन्दिरों की ओर सकेत वहाँ से प्राप्त शैव मूर्तियों और शिव लिङ्गों से मिलता है। जिनके कुछ अवशेष मिलते हैं। इनमें से अनेक प्राचीन मन्दिर संभवतः काष्ठ निर्मित थे और समय के कारण अब नष्ट हो चुके हैं। गुप्तकालीन सांस्कृतिक वातावरण पौराणिक हिन्दू धर्म का चारों ओर प्रसार तथा तवी नदी की उपजाऊ घाटी उनके निर्माण के विशेष कारण थे।

चम्बा के अवशिष्ट शैव मन्दिर गुप्तोत्तर कालीन हैं। इनकी संख्या अनेक है। इन्हें चम्बा के राजाओं ने समय-समय पर बनवाया था जिन्हें हम उनकी वंशावलिओं तथा उनके द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखों से

जानते हैं। इस क्षेत्र में शैवधर्म कुषाण-काल में प्रचलित हो गया था। जैसा कि एक कुषाण-कालीन शूलपाणि शिव की प्रतिमा से मालूम होता है जो चम्बा और भरमौर के बीच स्थित एक स्थान से मिली है। यह खड़ी प्रतिमा उसी शैली में निर्मित है जिसमें कुषाण-कला का प्रभाव देखा जाता है। हो सकता है कि ऐसा प्रभाव इस क्षेत्र में थोड़ी देर में पहुंचा हो। इनमें भरमौर के शैव मन्दिर सबसे प्राचीन हैं जो इस क्षेत्र में शैव धर्म के प्रसार और उसकी लोक-प्रियता के सही परिचायक हैं। इस काल में इसे राज-संरक्षण भी मिला, अतएव भरमौर में शैव मन्दिरों की भरमार हो गई। यहाँ मणिमहेश का मन्दिर सम्भवतः सबसे प्राचीन है जिसे चम्बा के प्राचीन नरेश मेरुवर्मा ने बनवाया था। यह मन्दिर सम्भवतः मध्य काल के प्रारम्भिक काल में बनवाया गया जैसा कि मन्दिर के समक्ष प्रस्थापित अष्टधातु से निर्मित शिव-वाहन नन्दी वृषभ की प्रतिमा से मालूम होता है। मन्दिर के गर्भगृह में प्रस्थापित विशाल शिवलिंग उससे कुछ प्राचीन लगता है क्योंकि वह प्रस्तर निर्मित है और मन्दिर द्वार के तारतम्य में नहीं बनाया गया है। गर्भकूप में प्रस्थापित प्रतिमाये नियमतः द्वार के तारतम्य में बननी चाहिए और उसी प्रकार मन्दिर शिखर की ऊँचाई का पैमाना होना चाहिए।

यह मन्दिर एक बड़े आयताकार चबूतरे पर बना है और उसका द्वार उत्तर की तरफ खुलता है। सामने स्थित वृषभ की विशाल प्रतिमा उसकी शोभा बढ़ाती है। चम्बा में निर्मित गौरीशंकर का मन्दिर इस क्षेत्र का दूसरा जीवित शैव केन्द्र है। इसे चम्बा के नरेश युगाकर वर्मा ने निर्मित कराया था जो साहिल वर्मा का उत्तराधिकारी था। इसमें रखी पीतल निर्मित शिव की प्रतिमा इस क्षेत्र की कला-परम्परा की एक अनुपम निधि है। यहाँ त्रिमुख लिंग मन्दिर का भी उल्लेख करना आवश्यक है। चम्बा के शैव मन्दिरों में उसका भी एक स्थान है।

चम्बा से कुछ ही दूर स्थित साहो में बना चन्द्र-शेखर (शिव) का भी मन्दिर यहाँ उल्लेखनीय है।

इसके द्वारविम्ब पर बनी दो मूर्तियाँ प्राचीन मालूम पड़ती हैं। निकटस्थ साराहन से मिले शारदा अभिलेख में इस मन्दिर का वर्णन मिलता है जिससे यहाँ प्रस्थापित शिव की महिमा का कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है।

चम्बा भरमौर का यह क्षेत्र प्राचीन पर्वतीय भारत वर्ष का एक प्रधान शैव पीठ मालूम पड़ता है। इस क्षेत्र को आज भी चौरासी कहा जाता है जिससे यहाँ स्थित उन चौरासी शैव मन्दिरों की लंकेत मिलता है जो परम्परा के अनुसार यहाँ कभी विद्यमान थे। इनके अवशेषों को वहाँ अब भी देखा जा सकता है। इनमें प्रायः छोटे-बड़े शिव लिंग प्रमुख हैं। शैव धर्म में महती आस्था रखने वाले लोगों की भावना की ओर यहाँ मिले उन अनेक अभिलेखों से भी संकेत मिलता है जिनमें शिवोपासना का उल्लेख है। इस क्षेत्र से ऐसे अनेक प्रस्तर खण्ड भी मिले हैं जिन्हें प्रपात-प्रस्तर नाम दिया जाता है। इन पर भी अनूप देवी-देवताओं के साथ शिव की प्रतिमाएँ उकेरी गई हैं।

यह क्षेत्र आज भी धर्म विश्वास की दृष्टि से एक प्रधान शैव क्षेत्र मालूम होता है। यहाँ के निवासी आज भी शिव के उपासक हैं। प्रायः प्रत्येक ग्राम में शिव-लिंग या नन्दी वृषभ पर आसीन भुजंगधारी शिव की प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। इस इलाके में प्रायः प्रत्येक घर में आज भी शिव की पूजा की जाती है। प्रत्येक घर में उसके लिए प्रतिवर्ष एक यज्ञ किया जाता है जिसे गद्दी भाषा में 'नुआला' कहते हैं। इसमें लोग नाच-नाच कर गीते गाते हैं और शिव सम्बन्धी कथाएँ कह-सुनकर आनन्द मनाते हैं।

मण्डी हिमांचल में शैव धर्म का दूसरा प्रधान क्षेत्र था। इस दृष्टि से, इसीलिए, इसे इस क्षेत्र का काशी माना जाता है। उनके साक्ष्यों में यह मालूम होता है कि आज की तरह प्राचीन काल में यह स्थान शैव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था। मैदानों से शैव धर्म जब इन पर्वतीय घाटियों की ओर बढ़ने लगा तो यह स्थान प्रमुख व्यापार मार्ग पर स्थित होने के कारण और

व्यापार के लिए एक प्रधान केन्द्र होने के कारण अनेक धर्मावलम्बियों का भी केन्द्र बन गया। इसे यहाँ व्यापारियों के साथ-साथ राजाओं का भी संरक्षण मिला जिसके परिणाम स्वरूप यहाँ शैव मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण अधिक संख्या में किया गया।

यहाँ के शैव भग्नावशेषों में सम्भवतः पंचवक्त्र का मन्दिर सबसे प्राचीन है। इसकी निर्माण शैली और उसकी मूर्तियों को देखने से यह मालूम होता है कि पूर्व मध्यकाल में कभी बनवाया गया था। इसके गर्भगृह में भगवान् पंचवक्त्र शिव की विशाल प्रतिमा अब भी देखी जा सकती है जो धर्म, मूर्तिशास्त्र एवं कला की दृष्टि से एक अनूठी रचना मानी जा सकती है। यह उत्तर भारतीय शिखर शैली में निर्मित एक छोटा सा मन्दिर है जिसमें केवल गर्भगृह और मण्डप ही बनवाये गये थे। इसका ऊँचा प्रधान शिखर अब भी ज्यों का त्यों विद्यमान अपनी प्राचीन समृद्धि की ओर संकेत करता है। मण्डप की छतें गिर गई हैं लेकिन दीवारें अब भी विद्यमान हैं। इनमें उकेरी शिल्प कलाएँ आज भी उस मध्य अलङ्कार की ओर संकेत करती हैं जिससे सम्पूर्ण मन्दिर कभी बड़ा सुसज्जित तथा वैभवपूर्ण था। यहाँ का उत्साही धार्मिक जागरण और धनी आर्थिक परिवेश इसकी समृद्धि के प्रधान कारण थे।

गुप्त या गुप्तोत्तर काल में यहाँ सम्भवतः अनेक शैव मन्दिर बनवाये गये थे। जिनके अब हमें न तो अवशेष मिलते हैं और न जिनकी सूचना किसी प्राचीन अभिलेख से मिलती है। परन्तु व्यास नदी के दूसरे किनारे पर बसी प्राचीन मण्डी सम्भवतः यहाँ के शैव धर्म की प्रधान स्थली थी। वहाँ विखरी प्राचीन मूर्तियों को देखने से ऐसा अनुमान होता है। वहाँ के मध्यकालीन तथा आधुनिक मन्दिरों से भी इसी ओर संकेत मिलता है। कुछ भी हो, शैव धर्म यहाँ निरन्तर विकसित होता रहा और मध्य काल में वह यहाँ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा। उस समय यहाँ अनेक शैव मन्दिर बनवाये गये जो आज भी वहाँ विद्यमान हैं। इनमें हम यहाँ उन दो मन्दिरों का

उल्लेख कर सकते हैं जो व्यास नदी के किनारे आमने-सामने अब भी खड़े हैं। इनमें त्रिलोकनाथ का मन्दिर प्रायः अधिक प्राचीन है जिसके निर्माण और काल की सूचना हमें कई स्रोतों से मिलती है। इसे सोलहवीं शताब्दी में अजबर सेन की पत्नी ने बनवाया था। नई मण्डी के भूतनाथ मन्दिर का निर्माण राजा अजबर सेन ने स्वयं करवाया था। यहाँ इस मन्दिर का वही स्थान है जो काशी में बाबा विश्वनाथ के मन्दिर का है। इसे आज भी इस नगर का संरक्षक देवता माना जाता है। सैकड़ों शैव उपासकों की भीड़ आज भी वहाँ लगी रहती है।

हिमांचल के अन्य मध्यकालीन शैव मन्दिरों में हम उन अनेक अवशेषों का उल्लेख कर सकते हैं जिन्हें यहाँ के क्षेत्रीय शासकों ने समय-समय पर बनवाया है। नगर-किले के निचले भाग में बने गौरी-शंकर का मन्दिर, माणिकरण के बिजली महादेव का मन्दिर, मण्डी क्षेत्र में स्थित मगरू महादेव का मन्दिर तथा छतरी की महादेवी मन्दिर, कागड़ा क्षेत्र में स्थित जिन्दगोल नन्दिकेश्वर महादेव तथा त्रिलोकपुर और बाबादेवत सिद्ध के शिव मन्दिर तथा सिसोल ग्राम में स्थित मुक्तेश्वर का मन्दिर, निमण्ड में बने कपालेश्वर शिव का मन्दिर तथा हाटकोटी में बने शैव मन्दिर, चम्बा का त्रिमुख लिङ्ग शैव मन्दिर, सुकेत क्षेत्र में स्थित पंगना का अम्बरनाथ मन्दिर तथा अमल विमल का शिव मन्दिर आदि विशेष प्रसिद्ध हैं, जहाँ अब भी वर्ष में कई बार मेले लगते हैं और महादेव शिव की पूजा करने के लिए हजारों लोग दूर-दूर से आते हैं।

बाद में यहाँ शिव की लोकप्रियता समानतः धीरे-धीरे कम होती गई। इसका स्थान शक्ति ने ले लिया जिसकी उपासना प्राचीन काल में भी बराबर की जाती थी। हिमांचल प्रदेश आज भी शैवोपासना का एक प्रधान क्षेत्र है और उसमें आस्था रखने वाले लोग उसके हर क्षेत्र में देखे जाते हैं। प्राचीन और मध्यकाल की तरह वह आज भी यहाँ की संस्कृति एवं कला का एक अभिन्न अंग है और उसके विकास का एक प्रधान प्रेरणा-स्रोत है।

DOHAD : ITS DEPICTION IN INDIAN SCULPTURE

—Tahsildar Singh

Dohada is, as Sir M. Monier Williams¹ defines, probably *Prakrita* form of the word *daurhrida*, the longing of a pregnant woman for particular objects or of the plants² which at budding time long to be touched by the foot or by mouth of a lovely woman. Kalidasa describes it, thus :

The excited Yaksha tells to the cloud, the messenger for his wife, "In the vicinity of the *madhavi* creeper bower fenced by *Kuravaka* trees are the *raktashoka* (red ashoka) tree with its waving tender shoots and the lovely *bakula* tree; the one along with me, longs for the foot of this lady friend of yours and the other mouthfuls of wine on the pretext of blossoming again."³

On another occasion Kalidasa expresses the availability of the lady's kick for the two objects who possess the special privilege :⁴

"There are two objects that the young damsel can kick with the tip of this foot of hers of the hue of tender shoots and with shining nails; One is the *ashoka*-tree lacking flowers in expectation of blossoms and the other, the bent head of the beloved one who is a fresh culprit (by stealthily courting another lady)."⁵

It was a popular theme to be described by the poets and authors of Sanskrit literature as a *Shringara-cesta* (action suggesting the amorous impatience) of the lovely maiden (*nayika*). It may be well traced from the *Ramayana*,⁶ *Yajnavalkya Samhita*,⁷ *Uttararamacarita*,⁸ *Buddhacarita*,⁹ *Kathasaritsagara*, *Pancatantra*, almost every work of Kalidasa¹⁰ and *Subhasitavali* of Vallabhadeva. Various aspects of *Dohada*, in *Subhasitavali*, are enumerated thus :—

The women folk spoke so while abandoning the city to the trees of the harem-garden 'Oh *Kuravaka*-tree you are deprived of the sport in which the breasts are rubbed against you; oh *bakula*-tree please do remember the sprinkling of mouthfuls of wine; oh *ashoka*-tree you will experience sorrow by the absence of kicks by the feet."¹¹

As it was a popular amorous expression in the literature of ancient India, it was dealt with equal interest charm and fascination in the periphery of Indian sculpture. It was employed as a decorative member on the pillars, pilasters and walls particularly on railing-posts and *torana*-brackets. Tracing the different aspects of

this popular theme depicted in Indian sculptural art is not an uphill task. The sculptures, right from the early age of Kusanas up to the medieval ages, comprise a pleasant bunch of the examples of the same tastefully depicted in a commendable concordance with the traditional literary description.

There is number of trees with their peculiar and particular *dohada* connected with and to be fulfilled by the various amorous activities of the lovely damsels. These are, as manifested by popular poetic diction,¹² entised below :—

- (a) Priyangu-dohada—for the touch,
- (b) Bakula-dohada—for the mouthful of wine,
- (c) Ashoka-dohada—for the kick,
- (d) Tilaka-dohada—for the wink,
- (e) Kurvaka-dohada—for the embrace,
- (f) Mandari-dohada—for the soft voice,
- (g) Campaka-dohada—for the mild smile
- (h) Amra-dohada—for the gentle breeze from mouth,
- (i) Nameru-dohada—for the song and,
- (j) Karnikara-dohada—for the dance, of the damsel.

The varieties of trees with the *suras-undaris* or *yakshis* carved on railingposts excavated from Bharahut, Mathura, Bodhgaya, on *toranabacket* from Sanchi, the images on the pilasters of temples in the *Dakshinakoshala* (modreen Chattisgarh) in life-size and on the walls of

Orissan temples indicate that the Indian artists were quite aware of all these variant notions of *dohada* and they attempted to depict all of them very sincerely and skilfully save the some of them which were impossible to be portrayed in stone e.g. *Mandaridohada* for soft voice. One thing may be noted here down, very precisely, that all these *dohadas* were of the different plants longing for the different amorous actions of the damsel, it was not the *dohada* of the women. So, the nomenclature is done after the plants. The difference in the poses of the damsels standing beneath the trees of different type can support the idea of plurality in the conception of *dohada*. Although the conception was concentrating for the specific and playful *dohadas* of the plants, the woman as a main source of its fulfilment and a symbol rather embodiment of fertility was sculptured in prominence. The conception of sacredness and auspiciousness also might have been connected with it causing its depiction on the religious monuments. The railing-pillars of Mathura (Kusana Period) and the walls of Orissan Temples (medieval period) are sufficient to produce the specimens.

Hitherto, all the *yakshis* standing with trees are treated as *shalabhanjikas* i. e. *ashoka-dohada*. It may not be appropriate to declare all the *yakshis* by the same name because the trees are carved in different design with some specific motive;

The *yakshi*, on the right end of the architrave of northern gateway Stupa 1 Sanchi, is standing beside a mango-tree. She is not standing in the specific *tribhanga-mudra* so it will be inapposite to assume it as *shalabhanjika* or *ashoka-dohada*. Actually it is *amra-dohada*. Therefore it seems amenable correct that there were a number of a varieties of *dohada*-motif, though it may be difficult to present the examples for all the motifs derived from the above shloka. The *Yakshi* Sudasana sculptured on a railing-pillar from Bharhut Stupa may be regarded as an example of *priyangu-dohada*, with her erected indication finger for touching the flower wine pendant above. No surprise if she is depicted in a pose as if she is about to fulfil the longing of the wine by touching it from her indication finger of right hand pointing upside.

A fragment of rail-post adorned by a lady with a cup of wine under certain tree is found at Mathura.¹³ According to the traditional evidence this tree may be regarded as *bakula*-tree longing for the mouthfuls of the wine from a lady. The another example of this motif hails from Mahanad Dist. Hoogly, Bengal. Here a lady is depicted, with a pot in her hands under a tree, with full grace, on a piece of black basalt. The lady and the tree both are erected on a lotus-pedestal. It is now housed in Delhi National Museum with its No. 55-9.

Ashoka-dohada is the most prominently executed and popularly known *dohada*

motif. It has been so influentially established that all the tree and lady motifs are named as *Shalabhanjika* or *ashoka-dohada* after this. It is a motif carved in the largest number. Some scholars are of the opinion that this motif converted, after a lapse of time, into the river-goddess motif continuing for a long time as prominent decorative member of doorways of Hindu as well as Buddhist temples in North India. There is a sculpture on the north wall of *Gudhamandapa* Mukteshvara temple, Bhuvaneshvara describing the scene of *Vamapadabhilasi* husband being kicked by the lady, half-dishevelled by a monkey (another popular amorous theme) and taking support of a tree. Here the tree and the lover both are present as the privileged objects, of *Malavikagnimitram*, easily to be kicked by the lady on account of excess of love and complaint of flirtiness respectively.

Another interesting image is on the south wall of the same temple exhibiting cross-legged standing lady under a tree. The lady is looking upward with slightly raised head. The slant position of the head with the whole composition, may refer to the *tilaka-dohada* in which the lady has to wink upon for the tree.

The *kurvaka-dohada* is relieved on a railing pillar of Bharhut stupa. It is now housed in Calcutta, Indian Museum. Two females are depicted embracing two trees of a same variety. The position of left and

is different but whole composition exhibits a embracing scene due to the posture created by the right leg and arm. From the south and southwest wall of Gauri Temple and North-west wall of Rajarani Temple of Bhuvaneshvar some more examples of this motif can be produced. Another suitable example is the lady carved back on the south wall of Rajarani Temple Keenly hugging a tree.

A railing-pillar from Mathura,¹⁴ a pila-ster from Konark,¹⁵ two figures on south wall of Rajarani Temple, a figure on east wall of *Gudhamandapa* of Sun Temple Konark; and two fragments of railpost, Mathura, represent the *campaka-dohada* motif with the ladies faces carved in such a style as if they are smiling. And the plant of *campaka* requires only a gentle smile.

Amara-dohada is represented on the northern gateway of the Sanchi Stupa 1 on a architrave with a clearly carved tree of mango and a female. Though the position

of mouth is not so descriptive of the motif under consideration here as the faces of the two figures on the south west wall of Gauri temple, Bhuvaneshvara Orissa, it may be treated as a member of this group.

At Sun Temple Konark on the south wall of *Gudhamandapa* there is sculptured a lady under a tree with an attendant (mutilated now) and musical instrument with half-opened mouth, One can easily venture to slate that it may be the *Nameru-dohada* motif. The lady is singing for the tree.

The last and the most weary and had to fulfil is the desire of *karnikhara*—which demands the dance of the lady for its blossoming. An image on the south wall, upper portion, of Brahmeshvara Temple, Bhuvaneshvara, though half-obliterate, and another on the *jagati*, east face, of the *Natamandira*, Sun Temple Konark suggest the performance of dance by ladies trying to pacify the longing of their dear *Karnikara* so that it may bloom for her.

References : —

1. Sanskrit-English Dictionary.
2. According to Shabdarnava—"Tarugulm-alatadinamakale kushalaih kritam. Puspadyutpadakam dravyam dohadam syattutatkriya."
3. Kalidasa : Meghadutam, Uttar; 17.
4. Kalidasa : Malavikagnimitram, III 12.
5. Memoirs of Archaeological Survey of India No. 73. By C. Sivarammurti. p. 39-40., 1970.
6. Valmiki Ramayana, Uttarakanda, 42/33-35.
7. Yajnavalkya Samhita, 3/79.

8. Bhavabhuti ; Uttararamacarita, Aet I, prose between the shlokas 10-11

9. Ashvaghosa : Buddhacarita 1/6.

10. Sanskrit-English Dictionary.

11. Subhasitavali, 2564.

१२. स्त्रीणामस्पर्शति प्रियगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् पादाघातादशोकस्तिलककुरवकीवीक्षणलिङ्गनाभ्याम् ।

मन्दारीनमंवाक्यात् षट्पृष्ठहासनाच्चम्पको वक्त्रवातात्, चूतो गीतान्ममेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

13. Provincial Museum, No. B 61. Lucknow.

14. Lucknow, Provincial Museum No. B 91.

15. Calcutta, Indian Museum No. A24131/

4726 & Lucknow, Provincial Museum No. B 78, and B 76.

चम्पू काव्यों में लालित्य विधान

—रामव्यास त्रिपाठी

संस्कृत साहित्य के गौरवपूर्ण इतिहास में चम्पू-काव्यों की विशिष्ट भूमिका रही है। मध्यकाल के उत्तरवर्ती समय में चम्पूकाव्यों को महत्त्व प्राप्त हुआ और वे साहित्यिक विधाओं में ससम्मान विश्लेषित किये जाने लगे। सच तो यह है कि चम्पू काव्य आख्यायिका और कथा साहित्य की समन्वित मध्य-वर्ती विद्या है जिसमें पद्यानन्द के साथ गद्य का आस्वाद भी प्राप्त होता है। दृश्य काव्य न होने के कारण नाट्य तत्त्व की कमी के रहते ए भी यह विद्या लगभग सहृदयों की दृश्य और श्रव्य दोनों का आनन्द प्रदान करती है। चम्पू काव्य में वाद्य, संगीत से समन्वित मधुरता, गद्य, पद्य मिश्रित आनन्द का ही प्रतीकात्मक रूप है।¹ गद्य-पद्य का समन्वित मिश्रण काव्य में ऐसी सरसता और रमणीयता उत्पन्न करता है जो गद्यवद्ध या पद्ययुक्त काव्यों में नहीं मिलती। चम्पूकाव्य द्वारा प्रदत्त आनन्द किशोरी कन्या, माध्वीक और मृद्वीक अथवा सुधा के सम्यक् योग से प्राप्त होने वाले आनन्द की भाँति विलक्षण है।² इन काव्यों का सौन्दर्य पद्मरागमणि संयुक्त मुक्ता माला या कोमल किंसलय हार के सदृश मनोरम एवं आकर्षक होता है। जल-विहार के समान रसजों के लिये चम्पू विहार भी होता है। गद्य-पद्य की अन्योन्यपीलित, लघुगुरु भाव लहरियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ मानसहंस जिस आनन्द की अनुभूति करता है वह एक रस प्रार्थित गद्य या पद्य धारा में नितान्त दुर्लभ है।³ यद्यपि चम्पू काव्य गद्य-पद्य मिश्रित होता है पर यह उल्ले-खनीय है कि इस विनियोजन के पीछे लालित्य ही

अन्तः सलिला की भाँति शोभायमान है। गद्य की कठोरता का परित्याग कर चम्पू जहाँ पद्यमय है वहीं पद्य की परिपाटीग्रस्तता से अलग गद्यमय है। गद्य की भाषा में सर्जना और रच तत्पकता के बीच जीवन मर्म की त्वरा से विभूषित चम्पू अनिवार्य रूप से ललित है। लालित्य ही इसका प्रधान अवयव है। स्मरणीय है कि लालित्य मानवीय सौन्दर्य सर्जना है। नैसर्गिकता के होड़ में रचित लालित्य की ओर अग्र-गमन मानव का स्वभाव है। चम्पू काव्य में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उदहरणार्थ रामायण चम्पू, चम्पूकाव्यों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भोज मूलरूप से शृंगार और लालित्य के कवि हैं जिन्होंने दाम्पत्य जीवन के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में ललित स्थलों का वर्णन किया है। सीता का मधुर सम्पर्क राम के लिए असीम क्लेशों को भी सुखमय बना देता है। चित्रकूट की अकृत्रिम भूमि पर लक्ष्मण द्वारा रचित पर्णशाला में सीता के साथ विहार करते हुए राम अयोध्या की ही भाँति चरम सुख की प्राप्ति करते हैं। वहीं पर मदोन्मत्त कोकिलों के कठ पंचम स्वर की सृष्टि कर वातावरण की सर्जना में लालित्य योजना की भरपूर सृष्टि करते हैं, कहीं पर शृंगार रस की आद्रता ने भी चम्पू कवियों को विशेष आकृष्ट करती है। सीता के बिना राम की विरहावस्था और मानसिक वेदना को देखकर वन देवताओं के आँखों में भी अश्रु भर आता है।⁴ काम की उस विजय यात्रा की बेला में पम्पा के निकट घूमते हुए मग्नहृदय राम भावनाओं द्वारा हृदयेश्वरी सीता का मानस प्रत्यक्ष करके लक्ष्मण से कहते हैं, 'विपत्ति

में जंगल में मंगल का आधान करने वाली सीता वनवास में मेरे लिये क्या नहीं थी।^{१५} इस प्रकार चम्पू काव्य में लालित्य को परिपुष्ट करने के लिए कवियों द्वारा अनेक वर्णन प्रसंगों की सृष्टि की गयी है जो भावात्मक चमत्कार एवं लालित्य योजना के लिए संस्कृत साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस प्रकार लालित्य विधान की दृष्टि से चम्पू काव्य एक ओर जहाँ कमनीय काव्य कला का प्रतीक है वहीं दूसरी ओर विविध परिस्थितिजन्य मानवीय भावनाओं का भव्य एवं सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करने का मनोरम स्थल भी। इसकी सहृदयता और विदग्धता का मंजुल सामंजस्य रसज्ञों को आह्लादित तथा चमत्कृत करता है। अतः लालित्य की दृष्टि से चम्पू काव्यों में जहाँ उल्लास है, आकर्षण है वहीं काव्य की मूल चेतना के अनुकूल जाने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इन काव्यों में सौन्दर्य के महान् रूप की प्रभा और प्रभाव का व्यापक चित्रण है। आभिजात्य और विलासिता, रूप और सौभाग्य का क्या सम्बन्ध है? अलंकरण क्या सौन्दर्य के हेतु भूत हैं या सहायक हैं, मनुष्य की स्वभाव और प्रकृति की सुषमा का क्या सम्बन्ध है? क्या वे प्रथम को मुख्य या दूसरे को तदाश्रित मानते हैं या दोनों को समानधर्मी सुन्दर या अन्यान्यपेक्ष? प्रकृति जिस सौन्दर्य का इतना प्रसार किया है उसमें मनुष्य द्वारा सायास साधित लालित्य योजना का क्या सम्बन्ध है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न तत्त्वान्वेषी पाठक के हृदय में उदित होते हैं और इसका समाधान चम्पू काव्यों में मिलता दिखाई देता है। चम्पू काव्यकारों ने मानव निर्मित सौन्दर्य को ही लालित्य कहना श्रेयस्कर समझा है। शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन चित्रण को चम्पू काव्यकारों ने विशेष रूप से मान दिया है। इस विभेद या उभार को चम्पू काव्यकारों ने जमकर अलंकारलक्षित करके सहृदय बनाया है। काव्यकार उमरे हुए वक्षस्थल पर दोलायित हार, चाहे वे शरद् कालीन चद्रमा की मरीचियों के समान कोमल मृणाल ताल के बने हों या

मुक्ताजाल ग्रथित हेमसूत्र में गढ़े हुए हों, श्रोणिविम्ब को मंडित करनेवाली कांची, या हेममेखला, हंससुतानुकारीनूपुर, स्तनांशुक, अपांगविलास, मदिरालसनयनापांग आदि का अपने काव्यों में जमकर वर्णन किया है। जिससे उनके लालित्य में चार चांद लग गया है। नल चम्पू में दमयन्ती के हाथों में कंकण, वलय तथा रामायण में सीता के हाथ में मुशोमित मृणाल वलय, इन्हें पसन्द है क्योंकि वे सुवृत्त कलाइयों की शोभा में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार परिणय चम्पू काव्यों में भी लालित्य योजना की रमणीयता दृष्टिगोचर होती है। ये चम्पू काव्य व्यष्टि प्रेम की अभिव्यंजना चित्रण में सफल हैं। जैसे मद्रकन्या परिणय चम्पू में लक्ष्मण श्रीकृष्ण से पहले से ही प्रेम करती है और शुक के द्वारा श्रीकृष्ण की स्नेहिल बातें सुनकर उनमें और आसक्त हो जाती है—

शुकनिगदितं वाचं राजकन्या निशम्य,
स्फुटित हृदया सा मोदसेदादि भावैः।
करनिहितकपोला प्रांशु निषवासधारोद,
गगनचलदुरोजा नैव किञ्चिज्जगाद ॥

मिलकन्या परिणय चम्पू के कनकाङ्गी का रूप चित्रण सम्बन्धी निम्न श्लोक लालित्य परम्परा की एक कड़ी है। यथा—

यस्मिन्सूरमरन्दपानमधुरध्वनालि राजिगिरी,
दृष्ट्वा व्यालमुवः पयोधरधिया नृत्यन्ति सम्मोहिताः।
नानामंजुलकुंज पुंजविहरद् भिल्लांगनाभंगसद्,
गीतैः कीरपिकारवैर्मुखरितरताक्ष्या चलो राजते ॥

इस प्रकार भावुक एवं सहृदय चम्पू काव्यकारों ने सुकुमार प्रकृति के ललित कलाओं मुख्यतः नृत्य और संगीत को अपने विशद ज्ञान के रूप में वर्णित किया है। उदाहरणार्थ आनन्द वृंदावन चम्पू के बीसवे स्तवक में वर्णित 'हत्लीसक' नृत्य लालित्य की दृष्टि से अत्यंत मनोरम है जिसमें विविध स्वरों रागों, श्रुतियों, ग्रामों, मूर्च्छनाओं और जातियों की गणना तथा नृत्य के बोलों के साथ नर्तन करती हुई

राधा और गोपियों की भाव-भंगिमा का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

ये ये ये तिगडित गये थेति पाठानुकृत्या,
विन्यस्यंत्यो भुवि पदतलं दोलतामन्तरिक्षे ।
वामावर्ते सकृदथ सकृददक्षिणावर्ते एव,
नृत्यन्त्यस्ताः सरसमधुरमण्डलस्था विरेजुः ॥

इस प्रकार लालित्य योजना की व्यापकता चम्पू काव्यकारों की रचनाओं में पर्याप्त देखने को मिलती है। उनका लालित्य पूर्ण रूप से परिष्कृत अनुरागरजित एवं विभव-समृद्ध है। उन्होंने लालित्य को ही अपना आलम्बन बनाया है और उद्दीपन के रूप में वसंत और वर्षा ऋतुओं का ग्रहण किया है। वैसे वर्षाकाल मादकता की संसृष्टि करता रहता है। गार्हस्थ्य जीवन में दाम्पत्य संयोग वर्षाकाल में अधिक सुलभ है और वसंत ऋतु केवल उन लोगों के लिए उद्दीपक है जिनका जीवन काम की वृत्ति न होकर मात्र काम की लालसा है। इस प्रकार चम्पू काव्यकारों ने जहाँ लालसा के चित्र खींचे हैं वहीं वसन्त का भी आह्वान किया है पर जहाँ प्रकृष्ट और पूर्णकाम प्रेम के लिए उन्हें प्रसार ढूँढने के लिए आवश्यकता जान पड़ी है वहाँ उन्होंने वर्षा का ही चित्रण किया है। 'दुष्यन्त' की सफलता वसन्त में प्रारम्भ हुई है पर शंकर के मन में रूप लालसा पैदा करने के लिये वसन्त की सहायता काम के रूप में सर्वत्र असफल रही है क्योंकि शङ्कर पूर्णकाम थे। कालिदास का यक्ष भी पूर्णकाम पात्र है। वह वर्षा को ही सबसे दुःसह ऋतु मानता है, यहाँ तक कि उसकी दृष्टि में वर्षा ऋतु के बादलों को देखकर प्रियतम के गले में रहकर भी प्रीति-उत्सुकता तीव्र हो जाती है, ° । इस प्रकार चम्पू काव्यों में लालित्य के परिप्रेक्ष्य में सहज और प्रकृष्ट प्रेमी को अभिव्यञ्जित किया गया है।

लालित्य के परिप्रेक्ष्य में इन कवियों ने शृङ्गार के वर्णन में युगीन मर्यादाओं के आलोक में रहते हुए भी संयत भाषा का ही प्रयोग किया है। 'करकिसलय' की शैल्या पर लेटी हुई उच्छ्वास छोड़ती हुई और

अविरल अश्रुओं से कुच-शिव का अभिषेक करती हुई पारिजात हरण चम्पू में सत्यभामा का मानताप किसी भी रीतिकालीन विरहिणी नायिका की साधना से कम नहीं है। फिर नायक कृष्ण क्यों नहीं विचलित हो उठते ?

विहारी की नायिका के कोमल शरीर पर गुलाब की पंखुड़ियों से भी खरोंच पड़ती थी। पर सत्यभामा उससे भी कामल थी। निम्न श्लोक में लालित्य योजना की सुन्दर संसृष्टि दिखायी पड़ती है—

कि खिद्यसे मलयजर्मलयानिलैर्वा,
कि वा मृणालवलयेर्नलिनीदलैर्वा ।
संशीलितापि ननु शीतल संविधानै,
ह्रीं हन्तहन्त हृदयं मम दन्दहीषि ॥

(पारिजात हरण चम्पू २/६०)

इस प्रकार चम्पू काव्यों की विशाल परम्परा में लालित्य योजना का राग-विरागमय चित्रण हुआ है। यहाँ पर ध्यान देना अनिवार्य होगा कि विराग भी एक विशिष्ट प्रकार की रागात्मकता है, वह मनुष्य के सम्बन्धों के पीछे उसकी रुचियों, वृत्तियों, संस्कारों, सरोकारों का कलात्मक अभिव्यक्ति है। अतः लालित्य योजना की चरम परणिति संस्कृत चम्पू काव्यों का मूल उत्स है।

संदर्भ :—

- १- जीवन्धर चम्पू १/६ श्लोक
- २- चम्पू रामायण, बाल-काण्ड ३
- ३- विश्वगुणादर्श चम्पू १/४१
- ४- चम्पू रामायण का अरण्यकाण्ड-३५१
- ५- चम्पू रामायण, किष्किन्धाकाण्ड-३५२
- ६- अमस्क-शतक की भूमिका, डा० विद्यानिवास मिश्र
- ७- पारिजात हरण चम्पू-२/५६



संगीत तथा नृत्य का उद्भव एवं विकास

—अम्बिका प्रसाद सिंह

गान्धर्व-विद्या (संगीत-विज्ञान) को अट्ठारह विद्याओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र—ये अट्ठारह विद्यायें निदिष्ट की गयी हैं।^१ संगीत कला की महिमा का गायन करते हुये मत्तृहरि की उद्धोषणा है कि संगीत-कला से अनभिज्ञ व्यक्ति साक्षात् पशु है, अन्तर केवल इतना है कि वह पुच्छ और सींग से रहित है।^२

गान्धर्व-विद्या (सङ्गीत) का उल्लेख वैज्य पृथु के पूर्व नहीं उपलब्ध है तथा न इस कला की उत्पत्ति का विवरण ही। सङ्गीत-कला के आदि आचार्य सूत एवं मागध जन हैं। सूत और मागध की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पौराणिक मान्यता यह है कि पृथु ने उत्पन्न होने के अनन्तर पैतामह यज्ञ का अनुष्ठान किया था। उस यज्ञ से सोमामिषव के दिन सूति (सोमामिषव-भूमि) से महामति सूत की उत्पत्ति हुई और उसी महायज्ञ से बुद्धिमान् मागध का भी जन्म हुआ। श्रेष्ठ मुनियों की आज्ञा से सूत और मागध ने पृथु के भविष्यत्कालीन कर्मों का स्वर सहित स्तवन किया और उनके द्वारा वर्णित गुणों को अपने हृदय में धारण किया।^३

विष्णु पुराण में सङ्गीत के सन्दर्भ में बारह गन्धर्व वर्णित हुये हैं—

(१) नारद, (२) तुम्बुरु, (३) हाहा, (४) हूह, (५) विश्वावसु, (६) उग्रसेन, (७) वरुचि, (८) वसुचि, (९) चित्रसेन, (१०) उर्णायु, (११) धृतराष्ट्र और (१२) सूर्यवर्चा।^४

उसके अतिरिक्त विवेचित है कि गन्धर्वराज ने जनार्दन के जन्म के समय हर्षित होकर गान किया था।^५

जातककाल में भी सङ्गीत का गन्धर्वों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने की सूचना मिलती है क्योंकि जातक साहित्य में सङ्गीत-कला को गान्धर्व वेद कहा गया है और इसको अट्ठारह शिल्पों (विद्याओं) में एक बतलाया गया है। ऋग्वैदिक काल में ही सङ्गीत-विद्या उन्नत अवस्था में थी तथा सङ्गीत-वाद्य भी प्रयोग में आ चुके थे। वैदिक मन्त्र स्वयं इस बात का प्रमाण देते हैं कि सङ्गीत का समाज में सम्मानित स्थान था। सङ्गीत की प्राचीनता का साक्षी स्वयं सामवेद ही है। यह भी निर्देश है कि संगीत ऋग्वेद का व्यावहारिक उपकरण था। साम गायन के कठोर नियम थे। जातक काल में संगीत को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा जाता था किन्तु संगीत-सिद्धान्त का प्राचीनतम उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद से अनुसार यज्ञानुष्ठान में संगीत व्यवहृत होता था। यह भी संकेत मिलता है कि सोम-लता को दबाने के समय ब्राह्मण मन्त्र गान करते थे।^६ मागध और सूत का विवरण भी ऋग्वेद में आया है और वहाँ मागध को चारण अभिहित किया गया है।^७ सूत को एलगिन के मतानुसार चारण और राजकवि होने की मान्यता दी गयी।^८

विष्णु पुराण में ब्रह्मलोक में उपयोग में लायी जाने वाली संगीत-कला की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में हाहा और हूह नामक दो संगीत भर्मेज गन्धर्वों का

विवरण मिलता है। उनके गान में अतितान और त्रिमार्ग (चित्रा, दक्षिणा और धावी) नामक कलाओं के उपयोग का वर्णन हुआ है। रेवत एक समय अपनी पुत्री रेवती के साथ उनके अनुरूप वर की जिज्ञासा से ब्रह्मा के समीप गये थे। उस समय ब्रह्मलोक में उपर्युक्त दोनों गन्धर्व अलौकिक गान गा रहे थे। उनका अलौकिक गान इतना मनोमुग्धकारी था कि अनेक युगों के व्यतीत हो जाने पर भी उन्हें क्षणमात्र प्रतीत हो रहा था।⁹

नृत्यकला:—

पौराणिक साहित्य में नृत्य कला को भी संगीत का एक मुख्य अंग कहा गया है। संगीत के साथ नृत्य का अथवा नृत्य के साथ संगीत का संयोग उपयोगी माना जाता था। अप्सराओं का नृत्य अत्यधिक प्रशंसनीय माना जाता था। देवताओं के साथ अप्सराओं के नर्तन का सन्दर्भ मिलता है। चैत्र से फाल्गुन पर्यन्त बारहों महीनों सूर्य के समक्ष नर्तन करने वाली पृथक्-पृथक् बारह अप्सराओं के नाम का उल्लेख पाया जाता है जिनके क्रमशः नाम हैं— [१] ऋतुस्थला, [२] पुञ्जिकस्थला, [३] मेनका, [४] सहज्या, [५] प्रम्लोचा, [६] अनुम्लोचा, [७] घृताची, [८] विश्वासी, [९] उर्वशी, [१०] पूर्वचित्ति, [११] तिलोत्तमा और [१२] रम्भा।¹⁰

कृष्ण को नृत्यकला का श्रेष्ठ आचार्य मान सकते हैं। उन्होंने कालियनाग के फन पर एक दिव्य नृत्य किया था। नर्तन करते हुये कृष्ण के चरणों की धमक से नाग के प्राण मुख में आ गये थे। वह अपने जिस मस्तक को उठाता था उसी पर कूदकर कृष्ण उसे झुका देते थे। कृष्ण की कान्ति, रेचक तथा दण्डपात नाम की (नृत्य सम्बन्धिनी) गतियों के ताडन से वह महासर्प मूर्च्छित हो गया था।¹¹

गोपियों के साथ रास क्रीडा रति कृष्ण का प्रभावोत्पादक संगीतमय नृत्य विष्णु पुराण में विवेचित है। कृष्ण ने निर्मल आकाश, शरच्चन्द्र की चन्द्रिका

और दिशाओं को सुगन्धित करने वाली विकसित कुमुदिनी वन खण्ड को गुंजायमान भ्रमरों से मुखरित और मनोहर देखकर गोपियों के साथ रमण किया। उस समय बलराम की अनुपस्थिति में ही कृष्ण ने अत्यन्त मधुर, अस्कुट एवं मृदुल पद ऊँचे और भीमे स्वर में गाया। उनकी उस मनोहर गीतध्वनि को सुनकर गोपियाँ तत्काल अपने घरों को छोड़कर कृष्ण के पास चली आयीं। वहाँ आकर कोई गोपी तो उनके लय से लय मिलाकर गान करने लगी और कोई मन ही मन उनका स्मरण करने लगी।¹² रास नृत्य के सम्बन्ध में पुराणकार की व्याख्या है कि मधुसूदन ने गोपियों में से एक का हाथ पकड़कर रास मण्डल की रचना की। उस समय उनके हाथ के स्पर्श से प्रत्येक गोपी की आँखें मुंद जाती थी। इसके पश्चात् रास क्रीडा आरम्भ हुई। प्रथमतः गोपियों के चंचल कंकणों की झनकार हुई और फिर क्रमशः शरद् वर्णन सम्बन्धी गीत होने लगे।¹³

राजप्रसादों में अप्सराओं के नृत्य का प्रसंग मिलता है। हिरण्यकश्यप के स्फटिकों और आम्रशिलाओं से निर्मित प्रासादों में अप्सराओं के उत्तम नृत्य का वर्णन है।¹⁴

मार्कण्डेय पुराण में भी नृत्यगान के प्रसंग बहुशः मिलते हैं। इस पुराण में उल्लेख मिलता है कि नारद जी एक बार वारांगनाओं से आवृत देवराज इन्द्र के पास पहुँचे। वारांगनाओं सहित इन्द्र ने नारद को प्रणाम करने के उपरान्त उनसे रम्भा, मिश्रकेशी, तिलोत्तमा, उर्वशी, घृताची या मेनका में से किसी को नृत्य करने का आदेश देने के लिये आग्रह किया। नारद जी रूपवती और गुणवती नारी के ही नृत्य करने के विधान का स्पष्टीकरण करते हुये कहते हैं— चार नृत्य ही नृत्य है और दूसरा नृत्य विडम्बना मात्र है।¹⁵

मत्स्य पुराण में विवरण मिलता है कि देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करने वाले राजा पुरुरवा अभिनन्दन में अभिनय प्रदर्शन किया गया था। उस समय भरत मुनि द्वारा लिखा हुआ 'लक्ष्मी-स्वयम्बर' नामक

नाटक का अभिनय किया गया था जिसमें लक्ष्मी का अभिनय उर्वशी ने किया था जो मुनि के वचनों को विस्मृत कर पुरुषा के प्रति आकृष्ट हो गयी थी।¹⁶

तारकासुर का वध हो जाने के उपरान्त देवताओं ने मिलकर उत्सव मनाया था। इस अवसर पर देवतागण स्तवन में तल्लीन थे तथा उनकी पत्नियाँ क्रीड़ा में रत थीं।¹⁷ शिव की वारात में विभिन्न प्रकार के वाद्यों का उल्लेख भी मत्स्य पुराण से मिलता है।¹⁸ मदनद्वादशी के अवसर पर गीता और वाद्य का समायोजन किया जाता था।¹⁹

ऋग्वेद में नृत्यकला के अभ्यास का वर्णन बहुधा उपलब्ध होता है। यह भी सूचना मिलती है कि उस समय स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी अवसर-अवसर पर नृत्य करते थे। शतपथ ब्राह्मण में नृत्य, संगीत और क्रीड़ा में रत रहने वाली अप्सराओं का विवरण मिलता है, किन्तु वैदिक साहित्य में किन्नरों का उल्लेख नहीं है। जातक साहित्य के अनुसार बौद्ध-काल में नृत्यकला को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था।²⁰ किन्तु अप्सराओं और किन्नरों को वहाँ नृत्यक्रिया से सम्बद्ध बतलाया गया है।²¹

पाणिनि नृत्यकला से परिचित प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने गात्र-निक्षेपार्थक नृती धातु के ऊपर अपनी टीका में शिलालिन् और कृण्विन् नामक दो व्यक्तियों को नृत्य सम्बन्धी दो सूत्रों के प्रणेता के रूप में वर्णित किया है। लोग समय-समय पर किसी एक स्थान पर उपस्थित होकर भी अनेक प्रकार के खेलकूद और आमोद-प्रमोद करते थे। इस प्रकार के उत्सव 'समज्या' कहलाते थे।²² मनोरंजन हेतु ही संगीत एवं नृत्य का प्रयोग होता था।²³ अर्थशास्त्र में भी नर्तकी कन्याओं के जीवन और कर्तव्यों का वर्णन मिलता है।²⁴

मत्स्य पुराण में उल्लेख आया है कि शंकर वामपार्श्व में कपाल एवं नागों को धारण कर, नृत्य करते थे। ऐसा

अवगत होता है कि प्रारम्भिक काल में ही राजपरिवार की नारियों एवं धनिक परिवारों ने नृत्यकला का बीजारोपण किया। किन्तु जातककाल में आकर उच्च परिवारों की उपेक्षा से यह कला पतनोन्मुखी हुई और तत्पश्चात् वंश-परम्परागत क्रम से एक विशिष्ट वर्ग के व्यवसाय के रूप में परिणत हो गयी।²⁵

मत्स्यपुराण में उल्लेख आया है कि शंकर वामपार्श्व में कपाल एवं नागों को धारण कर, एक हाथ से वर देते हुए और दूसरे से रुद्राक्ष ग्रहण किये हुए अभिनय की मुद्रा में स्थित रहते थे।²⁶ इसी पुराण में एक स्थान पर नाट्यशास्त्र को जानने के लिये 'नाट्यवेद' शब्द का उल्लेख आया है, इसी वर्णन-क्रम में नाट्य-वेद में निपुण वररुचि का भी उल्लेख किया गया।²⁷ एक अन्य स्थल पर रण-कौशल में निपुणता दिखाने वाले मयानुचर दैत्यों की उपमा नटों से प्रदान की गयी है।²⁸ देवासुर युद्ध के प्रसंग में उल्लेख है कि देवताओं ने राक्षसों को परास्त करने वाले पुरुषा का अभिनन्दन अभिनय के प्रदर्शन द्वारा किया था। इस अवसर पर भरत-मुनि द्वारा विरचित 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक का अभिनय किया गया था।²⁹

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है नृत्य एवं अभिनय से युक्त नाटक का सृजन भी प्रारम्भिक काल में ही हो चुका था। मत्स्यपुराण में इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के निमित्त इसका सम्बन्ध शिव से स्थापित किया गया है। इससे अवगत होता है कि नाटक विषयक नियमों का अनुपालन कड़ाई एवं सावधानी से होता था। 'उत्तर-रामचरित' का सूत्रधार अयोध्या का दृश्य एव काल प्रस्तुत करना अपनी विशिष्टता बतलाता है।³⁰ 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में भी नटी के समयानुकूल गायन से सूत्रधार अत्यन्त प्रसन्न होता है।³¹

विष्णु-पुराण में उल्लेख आया है कि श्रीकृष्ण मथुरा-निवासियों के लिए महोत्सव के समान आनन्द-प्रद थे।³² राक्षसों को परास्त करने के अनन्तर देवताओं ने सुमेरु पर्वत पर महोत्सव किया था।

इस महोत्सव में सुरांगनाएं भी सम्मिलित थीं।^{३३} कृष्ण-कथा के वर्णन-क्रम में समाजोत्सव का उल्लेख आया है। इस अवसर पर कस द्वारा नियुक्त मत्लों के साथ कृष्ण और बजराम का युद्ध हुआ था। इसे देखने के लिए नगर के विभिन्न वर्गों की नारियाँ भी एकत्रित हुई थीं। इनके बैठने के लिये अलग-अलग आसनों की व्यवस्था की गयी थी।^{३४} तारकासुर के वध के पश्चात् मनाये जाने वाले उत्सव में देवतागण स्तुतियों द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे तथा उनकी स्त्रियाँ क्रीड़ा कर रही थीं।^{३५}

भासित होता है कि संगीत एवं नृत्य से मुक्त उत्सव समायोजित करने की परम्परा पौराणिक कालीन संस्कृति से भी प्राचीनतर है। पूर्व वैदिक काल में 'समन' एवं उत्सव के आयोजित किये जाने का प्रमाण मिलता है। संगीत में भी आर्य पर्याप्त रुचि रखते थे।^{३६} आर्य विभिन्न प्रकार के वाद्यों का भी प्रयोग करते थे यथा—वीणा, करताल, दुंदुभी, शंख, कर्करी, वण, नाड़ी, आघात, मृदङ्ग आदि।^{३७}

जातकों से भी समाज के आभोजन पर प्रकाश पड़ता है। एक जातक में उल्लिखित है कि 'समाज' में सम्मिलित होने वाले स्त्री-पुरुष पंक्तिबद्ध होकर बैठे थे।^{३८} मातङ्ग जातक में उद्यान क्रीड़ा के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि वाराणसी की श्रेष्ठ-पुत्री दिट्ठमंगलिका अपनी सहेलियों के साथ दो-दो महीने तक उद्यान क्रीड़ा में रत रहती थी।^{३९}

अवदान-शतक में उल्लिखित है कि एकबार जब बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में ठहरे हुये थे, उस समय 'शालभञ्जिका' उत्सव का आयोजन किया जा रहा था। कई सहस्र व्यक्ति उसमें सम्मिलित होने के लिए एकत्रित हुये थे। पुष्पित शाल-वृक्षों के पुष्प का चयन कर वे एक दूसरे से क्रीड़ा और प्रमोद कर रहे थे।^{४०}

कौटिल्य ने खेल दिखाकर तथा मनोरंजन करके जीविकोपार्जन करने वाले लोगों का उल्लेख किया है

जिनमें नट (अभिनय करने वाला), नर्तक (नाचने वाला), गायक [गाने वाला], वाग्जीवन [कथा वार्ता से अपनी आजीविका चलाने वाला], कुशीलव [नर्तकियों को गायन और नर्तन कराकर जीविकोपार्जन करने वाला], प्लवक [बाँस पर चढ़कर खेल दिखाने वाला], सीमित्र [वाजीगर] चारण [भाट] आदि प्रमुख थे।^{४१}

ऐसा अवगत होता है कि नृत्य संगीत का सृजन आदिमकाल से ही प्रारम्भ हो गया था। जब प्रारम्भ में अन्धकार को भेदकर प्रकाश ने सृष्टि को ज्योति की माला पहनायी तभी किरणों के माध्यम से कम से कम नृत्य का मुखरित होना तो प्रारम्भ ही गया था। पुराण और उसके पूर्ववर्ती साहित्य तथा तत्सम्बन्धी समस्त कलाओं का प्रतिपादन स्पष्टास्पष्ट रूप में उपलब्ध होता है, इससे इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट हो जाती है।

सन्दर्भ :—

१- विष्णु पुरा, ३। ६। २८ और २९.

१- साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाणहीनः।

तृणं न खादन्नपिजीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

—नीतिशतक, १२.

३- विष्णु पुरा, १। १३। ५१ से ६४.

४- वही, २। १०। ३ से २०.

५- वही, ५। ३। ५.

६- कल्चरल हिस्ट्री फ्राम बायुपुराण, पृष्ठ—२१६.

७- वैदिक इन्डिका, २। १३०.

८- वही, २। ५११.

९- विष्णु पुराण, ४। १। ६७ से ६९.

१०- विष्णु पुरा, तुलनीय पादटीका २२.

११- विष्णु पुरा, ५। ७। ४५ और ४६.

१२- विष्णु पुराण, ५। १३। १४ से १८.

१३- वही, ५। १३। ५० से ५३.

१४- विष्णु पुरा तुलनीय पादटीका, १२.

१५- मार्कण्डेय पुरा, १। ३२ से ३६.

- १६- मत्स्य पु०, २४। २८ से ३१.
 १७- मत्स्य पु०, १६०। २७ और २८.
 १८- मत्स्य पु०, १५४। ५६३.
 १९- गीतं वाद्यं च कारयेत् । मत्स्य पु०, ८। १४.
 २०- कल्चरल हिस्ट्री फ्रॉम वायु पुराण, पृ० २१८ व २२०.
 २१- प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३१३.
 २२- पाणिनि अष्टाध्यायी, ३। ३। ६६.
 २३- वही, ३। १। १४५ और १४६.
 २४- पोजीशन आफ वीमेन इन एन्थेन्ट इण्डिया, पृ० २१४.
 २५- पोजीशन आफ वीमेन इन एन्थेन्ट इण्डिया, पृ० २१३.
 २६- मत्स्य पु०, २५६। ६ और १०.
 २७- दोग्धा वरुचिनिमि नाट्यवेदस्य पारागः ।
 —मत्स्य पु०, १०। २५.

- २८- मत्स्य पु०, १३६। ३१.
 २९- मत्स्य पु०, २४। २८.
 ३०- उत्तर रामचरित, अङ्क १
 ३१- अमिज्ञान शाकुन्तल, १/५.
 ३२- विष्णु पु०, ५। १८। २६.
 ३३- जितेध्वसुरसंघेषु मेरुपृष्ठे महोत्सवः ।
 बभूव तत्र गच्छन्त्यो ददृशुस्तं सुरस्त्रियः ॥
 —विष्णु पु०, ५। ३८। ७२.
 ३४- विष्णु पुराण, ५। २०। ६८.
 ३५- मत्स्य पुराण, १६०। २७-२८.
 ३६- ऋग्वेद, १०। १४६। २०.
 ३७- ऋग्वेद, १। २८। ५, २। ४१। ३, १०। ३२। ४.
 ३८- जातक, ६, २०७.
 ३९- जातक, ४, ३७६.
 ४०- जवदानशतक, पृ० २०१.
 ४१- अर्थशास्त्र, २। २७.

On the basis of spiritual and its own way of thinking therein. Tripartite system of Indian philosophy is one of the most ancient schools having its unique and correct ontology and epistemology. It is systematically based on Agamas which regard reality as of super human authority. The doctrines and practical proceedings as revelation handed over from generation to generation of teachers to pupils are of empirical value. Tripartite school of the nature of Agamic thought is one of the minor cults of Agamic systems based on self evident experience and which regards Power the final authority of the universe.

Implication of the term.
 Agamas, as is clear from the word have their own theory and practice. Agamic tradition is different from that of Nyaya, Jaina

- (I) Bhattacharya's explanation
 (II) Tripartite school of Agamic thought

TRIPURA SCHOOL OF AGAMIC THOUGHT

Hira Ballabh Pandey

Introduction: In spite of reasoning, there are presupposed self-evident truths based on experience in every system of thought. Reasoning has nothing to do with elements of thought of Philosophy. The contents coming from the careful observation with experience widened, would be the basis of our philosophy.¹

On the basis of spiritual attitude we measure the domains of philosophy and its own way of thinking therein. Tripura system of Indian philosophy is one of the monistic Schools having its unique and correct ontology and epistemology. It is systematically based on Agamas which regard agamic thought having as of Super human authorship. The doctrines and practical proceedings as revelation handed over from generation to generation of teachers to pupils are of empirical value. Tripura School of the nature of Agamic thought is one of the minor cults of Agamic systems based on self evident experience and which regards Power the final authority of the universe.

Implication of the terms.

Agamas, as is clear from the word, have their own theory and practice. Agamic tradition is different from that of Nigamic Tra-

dition. This different current of knowledge propounds new method in the Indian system of thought. The supreme knowledge is of the nature of earth consciousness in the awakening state, therefore Agamic tradition is non-vedic as well.

Though Jainism, Buddhism, Vaiyakarana, Panchratra, Vaikhanasa, Shakta, Pashupata, Siddhanta-Shaiva, Lakulishapashupata, Vishisatadvaita, Shaiva, Vishesadvaita Shaiva, Nandikeshvaradvaita, Raseshvara, Pratyabhijna, Kram and Kula systems of thought accept the verbal testimony and Agamic basis but in spirit and practice are not Agamic systems. Basically ten dualistic, eighteen dualistic cum-non dualistic and sixty four non-dualistic agamic doctrines have been regarded as agamic systems according to their own traditions. If the scholastic mind regards these systems as agamic, there should hardly be any objection. As a matter of fact, Shaiva and Shakta are the real agamic systems as Dr. K.C. Pandey² has stated in his article. But Dr. Navajivan Rastogi includes the following systems under Agamic thought -

- (I) Bhartrihari's voluntarism
- (II) Pratyabhijna of Somanand

- (III) Tripura School of 'Shakta thought.
- (IV) Ahirbudhnya Samhita.
- (V) The panchratra.

It is clear that Shiva and Shakti cults were prevalent in India long before the Vedic age. Gradually, there developed a vast literature of these cults known as Agamas and Tantras, and side by side the vedic scriptures also grew. Therefore, Agamic current of thought propounded many theories and gave birth to varied sects. As a result, different Schools of philosophy grew in this sub-continent. Similarly, different Schools of thought were developed within the ambit of Vedic field.³ Shaivism is an outgrowth of Shaiva Religion which recognizes Shiva as the highest Reality.⁴

In the history of Indian thought there arose two main currents, Vedic and non-vedic, based on Vedic Scriptures and Shaiva-gamas respectively. Rational doctrines in philosophy grew from the time of Lord Buddha and every system was looked upon from the philosophical point of view. Agamic system of thought is of the same spirit.

Agamic thought primarily developed as a religion, is the theistic system of philosophy and later on, its philosophical aspect was propounded. This is the system which synthesizes religion and philosophy. Shiva is ultimate Truth united with Shakti. Shiva and Shakti, inseparable from each other, occupy an important place in the Agamic system of thought. Shiva is for the

Cognitive Power and Shakti for power of Action. For this, Shaivas use the word Maheshvara and Reality as such is named as Brahman in the Vedanta philosophy. Brahman or Maheshvara is the creator and destroyer of the Universe. The identification of the individual self with the Supreme Being is real knowledge and the emancipation as such. Maheshvara or the Supreme Being is the awareness of the Supreme, inheritance of the individual self. Agamic thought of Indian philosophy, refers to Prakasha and Vimasha. Prakasha is self-manifestation or self-consciousness, all the objects viz., the tattvas are merged in the Prakasha. Vimarsha is the power of perception in which all manifested objects have a distinct reality of their own⁵ : (शैवेषु शक्तेषु चार्द्रतागमदर्शनेषु प्रकाशशब्दः शिवतत्त्ववाचकत्वेन, विमर्शशब्दश्च शक्ति-तत्त्ववाचकत्वेन प्रसिद्धः)

The three powers; Will, Knowledge and Action of Shiva are the state of perfect union within Him and remain in the very subtle forms in the transcendental state and in gross form, in the Immanent state. In Para State i.e. Transcendental state the triple powers work as well as in Apra State or in the State of differentiation. Agamic thought is the best way for the realization of the highest reality through spiritual discipline, which is imparted by Guru i.e. Shiva himself.

Tripura School of Agamic thought is regarded as a pioneer system of Shakti cult. It is the monistic system like

the Pratyabhijna School of Kashmiri Shaivism. In the Tripura system Shakti is recognized as the highest or Absolute cause of the Universe. The word Tripura is used for this Shakti particularly in this School. In the Pratyabhijna system, Shiva has been regarded as the highest reality while Tripura system regards Shakti as the highest truth, though both the systems regard Shiva-Shakti as Supreme. Thus, there is a slight ontological difference. As regards the dynamic side of the ultimate cause in the Tripura system, Shiva is static, calm, absolute but Shakti, viz. Tripura is dynamic and endowed with the powers of consciousness, bliss, knowledge volition and action by which she creates, sustains and dissolves the world, she is I-consciousness and differentiated into subjects and objects and modified into thirty six principles.⁶ The Supreme Goddess is called Tripura; (though variously named as Sundari, Lalita, Sodashi, Shri-Vidya, Kameshvari and So on) because Her Body consists of three Shaktis, viz. Biahmi, Vaisnavi and Raudri as has been stated in the introduction of Tripura Rahasya by M.M. Gopinath Kaviraj.

The line of Shakti Worship is described in the Nityasodashikarnava, chap. IV (4/4 to 4/18).⁷ Here in the Vamkeshvara alias Tripura School Para Samvid, used as Tripura, is ultimate Brahma or Reality.⁸

Tripura School in and out of Kashmir :

According to Dr. K. C. Pandey, a profound scholar of Shaivism, the Kula

System of Shaivism and its culture, developed not only in the whole of India but outside of this country also such as Tibet China, Nepal and further in the east. In India the Kula system of Agamic lore descended in Kamarupa now known as Assam in the extreme north east of India in the 5th century A. D.⁹ The Vamakeshvara Mata alias Tripura System, apparently an aspect of Kula system, also developed in Kamarupa in the 5th century A.D. Abhinavagupta gives the idea of the first propagation of Tripura Mata in Kamarupa by saying that the great sage Mina alias Macchanda was the originator of this system as the following quotation supports the statement in the Tantraloka Viveka—

भैरव्याभैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्तं ततः प्रिये ।

तत्संकाशात् सिद्धेन मीनाख्येन वरानने ।

कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना ।

T.A. Comm (I-24/Vol. I.)

Available documents establish beyond doubt that Tripura school is the later development in Kashmir, for, Abhinavagupta and Jayarath both are the proofs. Abhinavagupta the author of Tantraloka learnt the

Tripura system from Shambhunath in Jalandhara pith.

श्रीशम्भुनाथभास्कर-

चरणनिपातप्रभागतसंकीचम्

अभिनवगुप्तहृदयाम्बुज-

मेतद्विचिनुमहेषपूजनहेतोः ॥ T.A. Vol. I.P. 51.

Shambhunath's teacher in this school was Shri Soma Deva, Somadeva was

Abhinava's grand teacher. Somadeva was the desciple of Shri Sumati Nath. Therefore, Shri Sumati nath was Abhinava's the great grand teacher, who was the pioneer of the Tripura school and he belonged to the South Pith.¹⁰ (श्रीसुमतिनाथस्य श्रीसोऽदेवः शिष्यः तस्य श्रीशम्भुनाथः इति हि आयातिक्रमविदः). The statement is corroborated from the following stanza :-

कश्चिद्दक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्विभुमेरुवः
पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवेशास्त्रे विधाता च यः-
लोकेऽभूत्सुमतिस्ततः समुद्भूतस्यैवशिष्याग्रणीः
श्रीमाञ्छम्भुरितिप्रसिद्धिमगमज्जालन्धरात्पीठतः ।

T.A. Comm., Vol. I, P. 236.

In Nityasodashikarnavah (yogatantramala-1) the two commentaries, Rjuvimarshini and Artharatnavali compiled by Shri Braj Ballabh Dwivedi, it is stated that the first place of Tripura's propagation is Odyan Pith, and then it was first propagated in Kashmir in the 9th century A.D. by Ishvarashiva, and from Kashmir, the Tripura system was propagated in Kerala by Puivaguru Shivanand etc. In the Cola country, the Upasana of Tripura was already being performed.¹¹ It is said that Cola is in the pure Mangolian Zone.¹²

Dr. Bagachi¹³ does not agree with Dr. Bhattacharya in placing Uddiyana in Eastern India sometimes in Orissa and sometimes in Assam. Dr. Bagachi gives two distinct series of names in Tibetan (i) O-rgyan, Urgyan, O-di-ya-na and (ii)

O-di, O-di-vi-sa, giving example from Hevajratantra (7th Patala). Dr. Bagachi gives the proper order of the Pithas in the following way :-

पीठं जालन्धरं ह्यातं ओडियानं तथैव च ।
पीठं पूर्णगिरि चैव कामरूपन्तथैव च ॥

According to Dr. Bagachi Oddiyana was not near Kamarupa but near Jalandhara.¹⁴ Thus it is asserted that the boundaries of Uddiyana are following-

India on the South, Chitral on the North-West and it is situated to the north of the Indus.

Zahor, the borderland between Kashmir and Nepal, is also the place of Tripura Upasana. Now it is concluded that the country Mangolian zone, China, Tibetan country, or Bhota, Nepal are outside India. Jalandhara, Purnagiri, Kashmir, Kamarupa, Kerala, Bengal, Orissa and Varanasi are inside India. Therefore, it may be evedently said that Tripura school of Agamic thought was well developed in these regions.

In the 9th Century A.D. Tripura school was developed in Kashmir.¹⁵ Thus it is evident that Tripura school fully developed inside and outside of Kashmir as the history of Shaivism tells us.

Evolution of Tripura Thought :-

Tripura system is directly connected with the tantric culture. Therefore, the

literature and culture of Tantricism and Tripura school have the spirit of Shakta Philosophy.

The History and culture of Tripura school may be divided into three classes
(i) Ancient (ii) Medieval (iii) Modern.

Different deities were worshipped among the Aryans and non-Aryans in ancient India. The form of worship was also different. But there were deities commonly worshipped by both. Thus these were the deities worshipped by Aryans :- Aditi, Sarasvati Vak, Amba, Ratri etc. and there were the deities worshipped by non-Aryans :- Kali etc. fierce goddesses. And Gauri, Durga were worshipped by both the communities. Few Mantras were uttered for controlling the different Natural phenomena such as diseases etc. These mantras may be found in many ancient books. These mantras are also preserved in Vedic Samhitas. Thus it is clear that these mantras are framed in the form of ancient Tantric literature. Another aspect of Tantric cult is spiritual. The quest of soul is the main theme of this aspect. An approach began to be set out. This spirit and method came through the tradition to the medieval period, and medieval period, is the real historical period. Agamas and Shakta tantras having the same cultural traditions, were composed in this period. In due course of time a tendency towards specialization in teaching and in observing ritual practices emerged.

Among many schools of Shakta system, mainly Shri Kula and kali kula, developed in this time. Agastya, Durvasa, Dattatreya, and so many others were devoted to Shri Vidya. A number of works were produced by them. Shakti sutra and shakti Mahimna-stotra were attributed to the authorship of Agastya. Para shambhu stotra and Lalita stavaratna were composed by Durvasa. It is stated traditionally that Durvasa, by the order of Shiva created three mental sons and asked them to preach the philosophical idea of Agamic Literature. Dattatreya composed Datta Samhita which consists of 18000 verses. Parashurama summarised his Samhita in Sutra form, divided into 50 sections. Sumedha, disciple of Parshurama promulgates the main teaching of Dattatreya. M.M. Gopinath Kaviraj gives the idea of identification of this work with Tripura rahasya. Gaudapad wrote shrividya Ratna-sutra. It is said that Prapancasara was written by Shamkaracarya. Somananda's Shiva Dristi giving an idea of Vak is an important work on Shakta philosophy. Abhinavagupta's Tantraloka is an encyclopedic work on Shaiva-Shakta philosophy. Malinivijayavartika, Paratrinshikavivarana, Pratyabhijnavimarshini, Pratyabhijna-vivriti-vimarshini are his other works which express his learning and wisdom.

Goraksha, Punyanand, Amritanand, svatantranand and Bhaskararaya are the great figures who had preserved the Tripura thought. Maharthamanjari was composed

by Goraksha. Parimal and Samud Ullasa are its commentaries. Punyanand's Kama-kala Vilasa is an important work of Shakti school. Natananand wrote a commentary on it, called cid-valli. Amritanand, pupil of Punyanand, wrote a commentary on the Yoginihridaya, important section of Nityasodashikarnava, a part of yamakeshvaratantra, called Yoginihridayadipika. Svatantranand in his Matrikakakra-viveka, exposed the secrets of Shakta philosophy. One shivan-andmuni wrote an excellent commentary on it. Bhaskararaya is the most learned scholar of Shakta philosophy of Seventeenth and eighteenth century A.D. Among his best works Setubandh, is the most important work. It is a commentary on Nityasodashikarnavatantra. Varivasya-rahasya, Varivasya prakasha, Guptavati, and Saubhagya Bhaskara are other works on Tripura philosophy. Purnananda composed Shritattva. Cintamani. Thus this is the culture and literature of Shrikula connected with Tripura school.

In the Kali school, there are few works available as follows :-

Kala jnana (Kalottara), Mahakala samhita, Vyomakesha-samhita, Jayarath yamala, Uttaratantra, Shakti Samgama Tantra.¹⁶

Metaphysical Approach :- It is well known that in both the Shaiva and Shakta systems of monistic thoughts, two words Prakasha for Shiva in Shaivism and the

Vimarsha for Shakti in Shaktism are used. Those who worship Shiva are called Shaiva and those who worship Shakti are Shaktas, this is only the difference between the two systems. Beyond the thirty six catagories, what is Brahm is of the nature of Samvid.¹⁷ Therefore, in the Tripura philosophy of Shaktism, there is only the acceptance of manifestation of the Samvid Shakti and that samvid is only the Ultimate Reality.

This Reality, when it is beyond the time and space, is called Tripurasundari as has been described in Tripura philosophy. Thus Luminous Shiva is of the nature of consciousness, luminosity and consciousness are inseparably fused in him. So Shiva and Shakti are one and the same. स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोपि स्फटिकादिजडोपमः ॥

—Ishvarapratyabhijna Karika, 1-5-11.

Without Shakti Shiva is dead and it has no existence at all :-

शिवोऽपि शक्त्या याति कुण्डलिन्या विवर्जितः ।

शक्तिहीनो ह्यः कश्चिदसमर्थः स्मृती बुधैः ॥

—(Devibhagavat)

For the manifestation of the Universe, the Free Will is only responsible. Due to the Free Will of the Absolute, there is nothing beyond the play of the Will. This position consists in the theory of Abhasavad as recognized in Tripura School based on Shaktism.

Thus the function of Power or the Reality goes through two stages due to the

Free Will. The first stage is the dominating tendency of Spirit over the matter and the second stage is the preponderance of matter over Spirit. Therefore, it is peculiar to this philosophy where the Supreme Reality has been described appearing as the subject on the one hand and as the object on the other. This depends on the Freedom of the Absolute.¹⁸

The metaphysical explanation of Tri-pura system has been presented in a fine way by M.M. Gopinath Kaviraj in the following lines :—

In the Supreme state of Para vak the Universe which in the transcendent state, had been unmanifest, is apparent in chaitanya and is in a sense indentified with it in the same way as a reflected image is one with the reflecting mirror. The Para Shakti on this eternal plane has an eternal vision of this eternal universe not as an object out side of itself but as its very self. This eternal vision is therefore a self vision of the Shakti beyond the limitations of Time, Space and Causality and is a state of Perfect, Quiet and Peace. With the rise of Will sets in a commotion which projects for the a part of the Universe lying so long within the Chaitanya as of its very essence. This projection is technically known as Sristi or Creation. It happens in time, space and causal factors also begin to appear at this stage. The Universe, as projected maintains itself for a time and

then returns to the primitive Chaitanya from which it emanated. These three functions are symbolized by the three Vedas, the three constituent letters of Pranava and in fact all triple manifestations in nature, and are graphically represented by a triangle (the three sides of this triangle stand for three kinds of Vak— Pashyanti, Madhyama and Vaikhari), three cosmic functions (Creation, Maintenance and destruction), three aspects of Shiva (Vama, Jyestha and Raudri or Brahma, visnu and Rudra) and three aspects of Shakti (Ichha, Jnana and Kriya). the centre point of this triangle is the Para Vak which is synonymous with the equilibrium of shiva and shakti.¹⁹

References :—

- 1-ATEREYA, B.L.—Presidential Address, A plea for Reorientation of oriental thought, Tirupati, March, 1940.
- 2-Sarasvati Susama-Varanaseya Sanskrit University Patrika, Samvat. 2019, PP. 43-45.
- 3-Kaw, R.K.—the Doctrine of Recognition PP. 28-29.
- 4-Ibid, P. 12, Foot-notes, no. 23.
- 5-शिवस्य शिवादेभ्यन्तस्य अस्फुटस्यस्फुटीकारः प्रकाशः, इदन्तया हृदयङ्गमीभावो विमर्शः (पृ० ७०) इतियोगिनीहृदयदीपिका । अत्रप्रकाशत्वंनाम 'इच्छामि', 'जानामि', 'करोमि' इत्युत्तमपुरुषान्तर्गत-स्फुरणरूपाहंपरामर्शएव (पृ० ५) इतिविमृश्यते, परामृश्यत इदमिति विमर्शः प्रपञ्चः । इदमित्येव हि परमात्मना सृष्टस्य जगतः प्रसिद्धः परामर्शः

- (पृ० ३) इति, विमर्शो नाम अनवधिकारविस्फुरण-
शक्तिः (पृ० १५) इति च चिद्वल्ली कामकला-
विलासटीका ।
Nityasodashikarnavah, P. 83 (See
Yogatantragranthamala-1)
- 6-Sinha Jadunath-Schools of Shaivism
P. 77.
- (i) Artharatnavali of Vidyānand,
P. 192, 193, 206, 207.
- (ii) Yoginihridaya Dipika of Amrita-
nand, P. 12, 303, 305, 307.
- (iii) Kamakala Vilasa Cidvalli, P. 9,
10, 11, 37.
- (iv) Setubandha of Bhaskararaya, P. 140.
- (v) Gaudpadiya Sutra तत्त्वत्रयेणभिदा
इति ।
- (vi) In Tripurarnava-
नाडीत्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिङ्गला इडा ।
मनोबुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्रयमुदाहृतम् ॥
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात् त्रिपुरा मता इत्युक्तम् ।
- (vii) In Kalikapuranam-त्रिकोणं मण्डलं
चास्याः इत्यादि प्रस्तुत्य सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्त-
स्मात् त्रिपुरा मता ।
- (viii) Laghustava, Verse. '6.
- (ix) Shivananda-Purva catusshati.
4/4, 4/16.
- (x) Lalitasahasranamabhasya Saubhag-
yabhaskara, P. 132.
- ८-त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुरामवत्वात्-
त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्या ।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वा-
त्प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ॥ इति ॥
(Setubandha, P. 20)
- 9-Abhinavagupta-An Historical and
Philosophical Study, P. 577.
- 10-Ibid., P. 145.
- 11-Nityasodashikarnava Tantra (yogatan-
tra mala) P.P. 8-9.
- 12-Studies in the Tantras, P. 44.
- 13-Bagachi P. C.-Studies in the tantras,
P.P. 37-39.
- 14-There can be, therefore, no doubt
that Uddiyana is the same as the Shweta
Valley and that oddiyana, Uddiyana,
Udiyana, O-rgyan, O-di-ya-na, U-rgyan
and Wu-tching and Yue-ti-yen are all
different forms of the same name and
are quite distinct from Orissa.
Bagachi P.C. Studies in the Tantras,
(P. 38)
- 15-(A) Abhinavagupta- An Historical
and Philosophical Study, (P. 577).
(B) Vamakeshvarimatavivarana.,
(PP. 47-48)
- 16-M.M. Gopinath Kaviraj into Shakta
Philosophy, P.P. 401-404, in the History
of philosophy Eastern and western.
- 17-Ishvarapratyabhijna vivriti Vimarshini,
P. 337.
- 18-Please see—
(a) The Philosophy of Tripura Tantra
Part. IV. of the original edition
(K.C.) By Gopinath Kaviraj.
(b) त्रैपुरदर्शनम् in Nityasodashikarnavah,
edited by Braj Ballabh Dwivedi.
- 19-Sarasvati Bhavan Studies, Princess of
wales, vol. X., M. M. Gopinath
Kaviraj. ◆◆◆

DEVALUATION : A GAME OF DEFICIT-FINANCE

WITH SPECIAL REFERENCE TO INDIA

-Madan Lal Sharma

Devaluation is a monetary phenomenon whereas deficit-financing is a monetary measure to supplement the budget not to balance the budget. So whenever, the Government tries to supplement the budget by deficit-financing in order to carry on aggregate expenditure, supply of money shoots up. In order to meet the rising government expenditure, deficit financing is needed. The excess of which creates a havoc in the economy.

In India, the deficit financing is related to the supply of money. Our Government borrows from the Reserve Bank of India to supplement the budget. And this borrowing comes out in the wake of disappointment from the mobilisation of additional resources, when the mobilisation of additional resources does not yield any further increment to the resources for budget implementation, the last resort is the deficit-financing. and so with the help of deficit-financing the budget comes to be implemented.

The aggregate expenditure is done with the help of deficit-financing, which inturn expands the supply of money in

circulation. And in the simple economic arithmetic, it goes into the hands of the masses expanding the aggregate demand. According to Keynesian economic theory to balance the economy, aggregate demand is to be met with the increasing supply. If the equilibrium has not been established between aggregate demand and aggregate supply, the consequences are the unbalanced growth of the economy. And the cumulative effect of this disequilibrium brings out the fact that the price situation declines.

The worsening of the price-situation makes it necessary to implement measures to control it. But If it continues to worsen, the value of money deteriorates slowly and slowly. The deterioration in the value of money is a curse to the nation. In the long-run, it compels the Government to save the external value of money, e.i., the foreign exchange. If the currency is weak internally, it affects the external value of the currency. So, comparatively the foreign exchange aspect of the money deteriorates. And this deterioration of the external viability of the money, makes the comparative cheapness of the foreign

goods and services. And this in turn brings the malpractices in the national economy.

These malpractices are such that the external aspect of the money declines. Smuggling of foreign exchange and foreign goods are induced. And professional smugglers are induced to infuse the country with foreign goods and foreign exchange, and this process of smuggling makes imports cheaper. Exports become dearer and dearer. The economy becomes a puppet in the hands of smugglers. And this comparative cheapness of imports brings out the necessity to select either strict monetary and fiscal measures to control these malpractices or ultimately to devaluation.

Devaluation as such is a consequence of the worst gambling of the currency. In the country where somewhat stability of the currency is established, the question of devaluation seldom arise. The countries which are on sound monetary position, they do not need devaluation. They are to some extent able to check these malpractices through the monetary and fiscal measures. The advanced countries are not frequently involved into the cronic balance of payments problems, comparative to the developing countries.

Internally, devaluation is affected by the fall in the value of money, due to increased supply of money created by the deficit-financing. As already known, the decreased value of money in the countries concerned

makes the goods dearer. And this dearness of the internal goods and services makes the imports cheaper. Imports are encouraged by the illegal and unauthorised means. If the country concerned has not the strict imports restrictions, probably, this makes the exports insignificant. In order to control the imports, the country concerned resorts to devaluation.

It is widely accepted that to correct the disequilibrium created by the adverse balance of payments which in turn is also due to unauthorised imports, resort is been taken to the devaluation. It is acknowledged that the devaluation is a measure to encourage exports and discourage imports. But along with this object one thing is to be remembered. If the devaluation is not accompanied with the measures to control, it will not yield fruitful success. Other measures are necessary to follow the exports encouragement programme.

Now, the fact is drawn that "the prevention is better than cure". In spite of running to the accustomed method of devaluation, we should look to the preventive measures. If a country seeking to correct the adverse balance of payments by the adoption of devaluation and other alike measures, should seek to prevent the leakages of the economy which have brought the situation to this extent. The major programmes are to be adopted ultimately. The country should seek the reason. If the reason is

found cronic, measure should also be cronic.

Here, it is proper to depict the notion that the economy should adopt the Homeopathy Science which promulgates the principle of समं समं समयन्ति. In the idiomatic phrase, the diamond cuts diamond. Here the idea is that the country which is infested with the adverse and disturbing economic circumstances, should adopt the measures brought out from these disturbing circumstances. If the trouble is due to monetary aspects, then the monetary measures are apt to be desirable. If these troubles are due to external factors, the Government should try to remove these external factors. Suppose this trouble is due to imports or exports, the reformation should be sought in the imports or exports. In other words, the patient should be given the dose to supplement that deficiency which has turned him to be a patient.

This co-relation of deficit-financing and devaluation is seen in the long-run. But the intensity and frequency of deficit-financing may bring the devaluation as a consequence. The under developed and the developing countries are pressurised with more deficits in their budget. And they are usually accustomed to resort to deficit-financing. In developed countries, this devaluation is due to the weakness of the internal price-situation and the heavy pressure of speculation on their currency.

Deficit-financing should be viewed as the short-sighted measure to supplement the deficit-budget. If this is adopted as the long-term measure, it may result in sorrows. Practically, the countries who create finance to supplement the deficit-budget, they are usually seen to resort to deficit financing always. The foresightedness should be to remove the usual deficit in budget. The measure to remove this deficit should be the mobilisation of tax-revenue. It must be questioned that tax-collection is a long-run process. No doubt, this is long-run process, but the implementation of the projects is also the long-run process. So, the same principle of समं समं समयन्ति should be adopted.

Sri G. L. Mehta is of the opinion that the formation of deficit-financing is harmful to the economy which is expected to naturalise the fruits of development. In his view, the Government should always be aware of deficit-financing. In this regard Lord Cromer, the retired Governor of the Bank of England, commented :

"Prestige has to be earned and not bought; least of all on borrowed money."

The Finance Minister has rightly emphasised the vital importance of avoiding the deficit-financing.

Again Sri G. L. Mehta has added that the deficit-financing is not merely a question of balancing the budget but involves the whole problem of expenditure

of the Government.

In our country, deficit-financing has been the growing tendency on the part of State Governments and semi-Government bodies to overdraw heavily and avail unwarranted credits—a tendency which unfortunately even the highest financial authority in the country is either not willing or not in a position to curb effectively. The consequence of such deficit-financing has been that the so-called market borrowing of some of the State Government without credit causes their own securities overnight to be quoted at a terrific discount. This creates an

atmosphere of unreality. And this deficit-financing is the basis of the situation which we call inflation. From time to time we should frank and forthright to tell those in-charge of our finances that they are trying to perpetuate throwing on the shoulders of this nation a burden which is unpropitious. It is a criminally wasteful expenditure.

It is no wonder to say that country was pressurised to devalue its rupee on June 6 year 1966, due to deficit-financing amounted to be of the high order according to the Reserve Bank of India monetary data :

MAGNITUDE OF DEFICIT-FINANCING

(Rs. Crores)

YEAR AGTUALS As provided in the Plan

1	2	3	4
First Plan	As per Budgetary data	As per Monetary data	
1951-52	47	66	
1952-53	58	42	
1953-54	83	32	
1954-55	128	107	
1955-56	160	195	
Total	418	246	290

Second plan

1956-57	244	310
1957-58	479	503
1958-59	169	333
1959-60	159	264
1960-61	-69	-7

Total	982	1403	1200
-------	-----	------	------

Third Plan

1961-62	153	223
1962-63	129	211
1963-64	172	262
1964-65	133	226
1965-66 (R.E.)	354	478

Total	941	1400	550
-------	-----	------	-----

SOURCE: "Economic Times", 22nd May, 1967; P. 5.

The consequences of this huge deficit-financing has proved disastrous to the economy; in fact there was a fall of 4.7% in the aggregate real income and a fall of 7.1% in the per capita real income during 1965-66, the last year of the Third Plan. This deficit-financing pressurised the rupee to be devalued on June 6, year 1966. Deficit-financing at the rate we have been doing, it is completely incompatible with price stability.

It has been appropriately said by

Mr. H. V. R. Iengar former Governor of the Reserve Bank of India;

"In order to preserve monetary stability the authorities have to keep a continuous watch over the trends of money supply and regulate it in accordance with the needs of that economy."@

Reference :-

@ Vide, H. V. R. Iengar, "Monetary Policy and Economic Growth," Vora and Co. (Bombay), year 1962, P. 159.



प्राचीन भारतीय नारियों की लोकप्रिय क्रीड़ाएँ

—आशा त्रिवेदी

प्राचीन भारतीय नारियों की लोकप्रिय क्रीड़ाओं के अनेक सन्दर्भ पुराणों, जातकों तथा संस्कृत के प्रमुख नाटककारों एवं कवियों की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। नारी से सम्बद्ध प्रमुख खेल कन्दुक क्रीडा, अक्ष क्रीडा, उद्यान क्रीडा, जल क्रीडा, दोहद क्रीडा, रास क्रीडा एवं नृत्य क्रीडा आदि हैं जिनका यहाँ संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

कन्दुक क्रीडा :—

भारतीय नारी के मनोरंजक क्रीडा-विनोदों में कन्दुक क्रीडा प्राचीन काल में महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। यहाँ कन्दुक क्रीडा से अभिप्राय 'गेंद का खेल' है। सम्भवतः भारतीय नारी एवं बालिकायें अपने अन्तःपुर में ही उक्त क्रीडा करती थीं। ईसा से ६०० वर्ष पहले संस्कृत और प्राकृत से सम्बद्ध कवि एवं नाटककार आम का नाम अद्यापि स्मरणीय है जिनके प्रमुख नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में कन्दुक क्रीडा करती हुई 'पद्मावती' वासवदत्ता एवं उनकी सहेलियों का वर्णन मिलता है :—

“एवं भर्तृदारिका माधवीलतामंडपस्य पार्श्वतः कन्दुकेन-क्रीडति” इत्यादि।^१ अर्थात् यह भर्तृदारिका माधवीलता मंडप के बगल कन्दुक से खेलती है। पुरातात्विक साक्ष्य भी नारियों की क्रीडा के सम्बन्ध में मौन नहीं है।

कुषाणकालीन एक वेदिका स्तम्भ पर एक शोभन रमणी कन्दुक क्रीडा करती हुई चित्रित की गई है जो आज भी मथुरा के संग्रहालय में अवलोकनीय है।^२ ऐसा प्रतीत होता है वह सुन्दरी गेंद को ऊपर उछालती हुई उसे अपने सीधे हाथ की कुहनी पर रोके हुये है।

गुप्तकालीन महाकवि कालिदास के प्रमुख ग्रन्थ 'कुमार सम्भव' में पार्वती की कन्दुक क्रीडा का सन्दर्भ मिलता है—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः साकन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमेमुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसम् निविशतीववात्ये ॥^३

उक्त तथ्यों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि प्राचीन भारत की नारियों एवं बालिकाओं में कन्दुक या गेंद का खेल सबसे प्रिय समझा जाता था।

अक्ष क्रीडा :—

वैदिक काल में नारियाँ अक्ष क्रीडा अथवा जुए के खेल से सुपरिचित थीं। ऐसा लगता है कि पुरुषों की भाँति नारियाँ भी जुआ खेलती थीं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थल पर उल्लेख किया गया है कि जुआड़ी अपनी दुर्दशा एवं व्यथा का मनोरंजक चित्र उपस्थित करता है एवं पुकार कर अभिव्यक्त करता है कि उसकी भामिनी जुये में हार जाने के कारण उसको अपमानित की। यहाँ तक कि उससे बात भी नहीं की, तो दूसरों की बात ही क्या की जाय ?^४ एक मन्त्र से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। ऐसा लगता है कि वह जुआड़ी अपने अनुभव के आधार पर स्वयं शिक्षा देता है।^५ उल्लेखनीय है कि महाभारतयुगीन भारत में भारत युद्ध अथवा महायुद्ध जुए के खेल के फलस्वरूप हुआ था। अष्टाध्यायी तथा काशिका के प्रणेता पाणिनि ने अक्ष क्रीडा का विवरण दिया है। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने 'आक्षिक' का उल्लेख किया है। ऐसा लगता है कि पाणिनि कालीन भारत में सचमुच अक्ष क्रीडा या

पासे का खेल सर्वसाधारण के लिए भी मनोरंजन का प्रमुख साधन माना जाता था। सम्भवतः नर-नारी दोनों इस खेल को खेलते थे। ऋग्वेद में वर्णित तथ्य संकेत करता है कि यह खेल अच्छा नहीं समझा जाता था क्योंकि इसका विनाशकारक परिणाम निकलता था। परिस्थिति के अनुसार जीत जाने के कारण एक पक्ष अमीर होता था तो दूसरा गरीब। जुये के खेल का दुष्परिणाम महाभारत का युद्ध अद्यापि स्मरणीय है।

उद्यान क्रीडा :-

प्राचीन भारतीय नारियों के लिये उद्यान-क्रीडा भी महत्वपूर्ण मानी जाती थी। भारतीय नारी से सम्बद्ध उद्यान क्रीडा एवं सलिल-क्रीडा के सन्दर्भ जातक कहानियों में तथा संस्कृत कवियों के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। मातंग जातक में एक कहानी का उल्लेख है कि वाराणसी के श्रेष्ठी की दिट्ठमाङ्गलिका नाम की दुहिता एक दो माह पर अपनी सखियों के समूह को लेकर बड़ी मस्ती से भूमते-भूमते उद्यान-क्रीडा के लिये जाया करती थी।^७

उद्यान-क्रीडा एवं सलिल क्रीडा के मनोरंजक वर्णन अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि महत्वपूर्ण कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। पुष्पित अशोक वृक्ष अथवा शाल वृक्षों के नीचे नारियाँ खड़ी होती थीं और उन वृक्षों की टहनियों से पुष्पों को बार-बार चुनने में परस्पर क्रीडा करने की रमणीय स्थिति उत्पन्न करती थीं, जिसके कारण वातावरण मनोरम हो जाता था। ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में प्रकृति के वातावरण में प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेने में प्राचीन भारतीय नारी गौरव का अनुभव करती थी।

पालिनिदानकथा में एक स्थल पर उल्लेख किया गया है कि शालवन में शालभञ्जिका-क्रीडा विधिवत् तरीके से की जाती थी। ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म के प्रणेता भगवान् बुद्ध (सिद्धार्थ) की माँ रानी मायादेवी के मन में शालवन की क्रीडा करने की अत्यधिक कामना का प्रादुर्भाव हुआ था।

ध्यातव्य है कि 'शालभञ्जिका' शब्द से क्रीडा का नाम भी स्पष्ट हो जाता था। आकर्षक शालवृक्ष के नीचे उसकी टहनी झुकाने की मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री का वर्णन भी मिलता है। ऐसा विदित होता है कि भारतीय नारियाँ शालभञ्जिका आदि उद्यान-क्रीडाओं में अत्यधिक मनोविनोद का अनुभव करती थीं।^८

भारतीय कला में शालभञ्जिका आदि उद्यान क्रीडा के सन्दर्भ आज भी द्रष्टव्य है। भरहुत, साँची और शुंगकला एवं मथुरा की कुषाण कला में अनेक स्त्रियों के शालभञ्जिका अथवा उद्यान-क्रीडा के दृश्य चित्रित हैं।

धर्मसमाभ्युदय ग्रन्थ के द्वादश सर्ग में वन क्रीडा का विशद वर्णन किया गया है।^९ इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर विद्वान् पन्ना लाल जैन ने किया है, जिसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय नारियों की उद्यान-क्रीडा से सम्बन्धित मनोरम दृश्य को चित्रित करने का स्पष्ट रूप से प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि धर्मसमाभ्युदय के अनुशीलन से भारतीय नारी के लताओं के साथ झूला झूलने के दृश्य से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। ऐसा लगता है कि कोई स्त्री लताओं के अग्रभाग में झूला झूल रही थी, झूलते समय उसके स्थूल नितम्ब मण्डल बार-बार नत-उन्नत हो रहे थे जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वह पुरुषाकर्षित क्रिया को बढ़ाने के लिए परिश्रम कर रही हो। कोई स्त्री चूनामणि की किरण रूप धनुष से युक्त अपने मस्तक पर कदम्ब के फूल का नवीन गोलक धारण कर रही थी जिससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वन में मर्मभेदी वन्य कोयल के लिये उसने निशाना बाँध रक्खा हो। कोई स्त्री चम्पा के खिले पुष्पों की माला को हाथ से न उठाने के कारण काम रूप यमराज के द्वारा अस्त विरहिणी स्त्री की गिरी हुई स्वर्ण मेखला की विडम्बना करती हुई सी जान पड़ती थी। किसी स्त्री ने उँची डाली को झुकाने के लिये अपनी अपनी चंचल अंगुलियों वाली भुजा ऊपर उठायी ही थी कि पति ने छल से उसकी बाँह में गुदगुदा दिया, इस

क्रिया से स्त्री को हँसी आ गई और फूल छूटकर नीचे गिर पड़े। उस समय के फूल ऐसे जान पड़ते थे मानों स्त्री की मुस्कान देख वे लज्जित हो गये हों और इसलिए आत्मघात की इच्छा से वे अपने आप को वृक्ष के अग्र भाग के नीचे गिरा दिये हों। उस समय परस्पर एक दूसरे की दी हुई पुष्प मालाओं से स्त्री-पुरुष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों कामदेव अपने तीव्र कोप से अपने अव्यथ बाणों के द्वारा ही उन्हें व्याप्त कर लिये हों।

कुषाण कालीन नारियों से सम्बद्ध उद्यान क्रीडा का रोचक वर्णन विद्वान् प्रभुदयाल भीतल ने 'व्रज की कलाओं का इतिहास' पुस्तक में अभिव्यक्त किया है। उक्त पुस्तक से विदित होता है कि उद्यान-क्रीडा का आयोजन प्राचीन काल में प्रायः वसन्त ऋतु में किया जाता था। ऐसा लगता है कि किसी निश्चित दिन या समय पर नगर निवासी नर-नारी अपने-अपने पारदर्शक वस्त्रों से सुसज्जित होकर पूर्वाह्न में उद्यान-क्रीडा करने के उद्देश्य से चल पड़ते थे। यह सारी उद्यान-क्रीडा अरण्यां में ही की जाती थी। अधिकांश पुरुष घोंड़ों पर चलते थे, जबकि भारतीय नारियाँ पालकियों में चढ़कर उद्यान एवं वनों का आनन्द लिया करती थीं और उनके पीछे-पीछे सेवक या सेविकाओं का झुण्ड चला करता था। प्रायः वे सभी जंगल के रमणीय उद्यानों में जाकर सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के शृंगार को निरखने में विशेष आनन्द का अनुभव करती थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि वे सघन अरण्य के वृक्षों की छाया में बैठकर विहार का आनन्द लेती थीं। उस रमणीय वातावरण में गान, वाद्य, नृत्य आदि कार्यक्रम उद्यान-क्रीडा-विनोद के साथ ही विये जाते थे। उद्यान-क्रीडा से सम्बन्धित उक्त तथ्य इस बात को संकेतित करते हैं कि उद्यान-क्रीडा के साथ-साथ भारतीय नारियाँ वन महोत्सव में भी सम्भवतः भाग लिया करती थीं।

जल क्रीडा :-

अति प्राचीन काल से ही भारतीय नारियाँ जल

विहार का आनन्द लेने के गौरव की अनुभूति प्राप्त करती थीं। हरिवंश पुराण में जल क्रीडा का वर्णन कुछ स्थलों पर विस्तृत रूप से किया गया है। उक्त पुराण में कृष्ण तथा उनके परिवार से सम्बन्धित लोगों की जल क्रीडा का वर्णन मिलता है। इस पुराण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कृष्ण तथा उनकी प्रेमिकाओं के लिये अलग-अलग नौकाओं का निर्माण नौका-विहार करने के उद्देश्य से किया जाता था। इन नौकाओं में प्रासादों का निर्माण वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाना उचित हो सकता है।⁹ पी० के० आचार्य के अनुसार हरिवंश में वर्णित तथ्य स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं कि नौकाओं के ऊपर बने हुए आयत, चतुरस्र, वृत्त तथा स्वस्तिकाकार प्रासादों के लक्षण 'मानसार' नामक ग्रन्थ में भी मिलते हैं।¹⁰

हर्षकालीन बाणभट्ट के ग्रन्थ 'कादम्बरी' में चन्द्रा-पीड रंगभरी पिचकारियों (कनकशृंगकोष) से अपनी स्त्रियों के साथ देर तक क्रीडा में लगा रहता था। कोई उस पर केशरिया जल छोड़ती, कोई लाक्षारस से दुकूल रंग देती, कोई कस्तूरी के सुगन्धित जल से उसके देह के चन्दन को शबलित कर देती थी। कभी वह दीर्घिकाओं के जल में अपनी स्त्रियों के साथ जल क्रीडा करता था।¹¹ यहाँ जल क्रीडा से सम्बन्धित कई प्रकार की अवान्तर चेष्टाओं का उल्लेख किया गया है। दीर्घिका राजभवन को आवृत करती हुई जल की लम्बी नहर की अन्वर्थ संज्ञा थी। उसमें बीच-बीच में छोटी-बड़ी वापियाँ बनी रहती थीं। उसमें कई प्रकार का सुगन्धित जल भरा रहता था। कहीं दीर्घिका के जल में स्नान क्रीडा करती हुई सखियों के स्तनों का चन्दन पानी में मिलकर उसे धवलित कर देता है। कोई मुखरित चंचल पायल पहनकर पानी में पैर लटकाकर बैठती और पानी को झँकोरती तो उससे आलता-राग के जल में मिल जाने से जल की बुँदें रक्तोत्पल के लोभ से आये हुये पालित हंसों पर पड़कर विशेष शोभा उत्पन्न करती,

किसी की विगलित अलकादली से टपके पूल जल को शबलित कर रहे थे, किसी के स्नान की लहरियाँ दीधिका के जल को क्षुभित कर रही थीं। उखड़े हुए कमलों की धूलि जल के ऊपर उतरा रही थी। हाथों से आलोडन के कारण पानी में फेन बिन्दु उठ रहे थे। कभी चन्द्रापीड प्रणयिनी स्त्रियों को संकेत स्थान पर बुलाकर स्वयं उपस्थित न होता, तब वे खीझकर मौहें टेढ़ी करके निनादित मणि कंकणों द्वारा अलंकृत भुजाओं में मौलसिरी की माला लेकर उनसे उसके पैर बाँधकर, कुसुम माला से उसका ताडन करतीं। कादम्बरी में वर्णित उक्त तथ्य संकेत करते हैं कि हर्षकालीन भारत में नारियाँ जल क्रीडा में विशेष अभिरुचि रखती थीं।

धर्मसमाभ्युदय में भी जल क्रीडा का वर्णन किया गया है।¹² जल क्रीडा की इच्छा रखने वाली तरुण स्त्रियों का अपने-अपने पतिदेवों के साथ पवित्र नर्मदा नदी की ओर जाने के सन्दर्भ रोचक स्थलों पर दिये गये हैं। धर्मसमाभ्युदय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि नर्मदा नदी उन स्त्रियों को परिश्रम के भार से कान्तिहीन देख मानों करुणारस से भर आयी थी, इसलिए जल के छीटों से युक्त कमलों के बहाने उनके नेत्रों में मानों अश्रुकण छलक उठे थे।¹³ उक्त पुस्तक में यह भी अभिहित है कि बहुत सी स्त्रियाँ, जिनके नेत्र नदी के पास पहुँचते ही चंचल हो जाया करते थे एवं वे उस समय जल में प्रवेश नहीं कर रही थीं किन्तु पानी में उनके प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ रहे थे, ऐसी जान पड़ती थीं मानों उन चंचललोचना स्त्रियों की भुजाओं को पकड़ने के लिये स्वयं जल की देवियाँ उनके सम्मुख उपस्थित हो गई हों।¹⁴

एक स्थल पर सम्बन्धित पुस्तक में यह भी वर्णन है कि जल क्रीडा के योग्य वेश को धारण करने वाली कितनी भीरु स्त्रियाँ नदी में पहुँचकर भी गहराई के कारण भीतर प्रवेश नहीं कर रही थीं। जब पतियों ने हाथ पकड़े तब प्रविष्ट हुईं।

दोहद क्रीडा :-

नारियों के लोकप्रिय खेलों में दोहद क्रीडा का अत्यधिक महत्त्व प्राचीन काल में था। यहाँ दोहद शब्द का लाक्षणिक अर्थ है वृक्षों को क्रीडा के द्वारा पुष्पित करना। इस सम्बन्ध में यह विवेच्य है कि कुछ ऐसे भी वृक्ष हैं जो सुन्दरियों के स्पर्श, पादाघात, आलिगन आदि से शीघ्र पुष्पित हो जाते हैं। इस विषय में यह प्रसिद्ध कवि समय ही है। साहित्यदर्पण में 'पादाघातादशोक' ¹⁵ इत्यादि का उल्लेख किया गया है-

स्त्रीणामस्पर्शात् प्रियंगुविकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौवीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारीनमवाक्यात्पटुमृदुहासनाच्चम्पको वक्त्रवातात्,
चूतो गीतान्नमेरुविकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

अर्थात् स्त्रियों के स्पर्श से प्रियंगु, मुख में लिये गये मद्य की कुल्ली से बकुल, पादाघात से अशोक, दर्शन से तिलक, आलिङ्गन से कुरवक, कोमल वाणी से मन्दार, मधुर हास से चम्पक, उच्छ्वास से चूत, गीत से नमेरु तथा नर्तन से कर्णिकार विकसित होते हैं। ऐसा लगता है कि दोहद क्रीडा का आयोजन अन्तःपुर की वाटिकाओं एवं नगरीय उद्यानों में किया जाता था। सबसे अधिक आकर्षक तथा सरसरूप नगर के बाहर बड़े उद्यानों में अशोक, शालादि वृक्षों के नीचे बिखरे हुये पत्ते उपस्थित करते थे। दोहद क्रीडा के सन्दर्भ महाकवि कलिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' में मिलते हैं-

अनेन तनुमध्यया मुखनूपुरराविणा,

नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः ।

अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे,

वृथा वहसि दोहदं ललितकामिनी साधारणम् ॥¹⁶

अर्थात् इस कुशोदरी मालविका ने कमल कोमल मुनूपुर चरणों द्वारा तुम्हारा सम्मान किया, उस पर भी तत्काल तुम विकसित नहीं हुए। तब तो लज्जित

कामियों के समान दोहद का धारण व्यर्थ ही करते हो।

मालविकाग्निमित्रम् के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मदनदेव की विधिवत् पूजा की जाती थी। तत्पश्चात् अशोक, शालादि में दोहद उत्पन्न किया जाता था। इसकी विधि का उल्लेख इस प्रकार है— कोई सुन्दरी सब प्रकार के आभूषण पहनकर पैरों में महावर लगाकर और नूपुर धारण कर अपने बायें चरण से वृक्ष पर मृदु आघात करती थी। उस आघात की विलक्षण महिमा थी। वह वृक्ष ऊपर से नीचे तक पुष्पों के स्तवकों (गुच्छों) से भर जाता था। सम्भवतः रानी ही सखियों सहित यह क्रीडा करती थी, किन्तु कभी-कभी यह दोहद अन्य रमणियों द्वारा भी सम्पन्न किया जाता था।

कुषाण कालीन मथुरा की कला में भी कुछ नारी मूर्तियों में दोहद क्रीडा दृष्टिगोचर होती है, जिसका पारिभाषिक नाम 'अशोक दोहद' अथवा 'शालभञ्जन' स्मरणीय है। वास्तव में दोहद क्रीडा अशोक एवं आकर्षक शाल के वृक्षों के नीचे की जाती थी। मथुरा संग्रहालय में प्रतिष्ठापित शालभञ्जिका मूर्तियाँ विशद जानकारी के लिये अद्यापि द्रष्टव्य हैं।

रास क्रीडा :—

उक्त क्रीडाओं के अतिरिक्त भारतीय नारी से सम्बद्ध रास क्रीडा अथवा रास लीला आदि के सन्दर्भ विशेष रूप से हरिवंश पुराण एवं कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में मिलते हैं। हरिवंश पुराण में रास लीला के लिये 'हल्लीसक' का अर्थ 'रास' माना है—

“हल्लीसक्रीडनम् एकस्यपुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रास क्रीडा”।

अर्थात् रास क्रीडा का अर्थ है एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ क्रीडा रत होना। मात्र हरिवंश पुराण में ही रास के लिये हल्लीसक शब्द का प्रयोग हुआ है अन्य किसी भी पुराण में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि रास-क्रीडा प्राचीन भारत में

दो-दो गोपिकाओं के द्वारा मण्डल बनाकर भगवान् कृष्ण चरित के पवित्र गान के साथ की जाती थी¹⁷ और कृष्ण मनोरम प्रेमी गोपिकाओं के मण्डल के बीच में सुशोभित हैं।¹⁸ हरिवंश पुराण में कृष्ण चरित के वर्णन में छालिक्य एवं गान्धर्व नामक वाद्य-मिश्रित संगीत का सन्दर्भ उपलब्ध होता है। जलविहार के बाद कृष्ण, सत्यभामा, नारद और अर्जुन के साथ अष्टराओं के सम्मिलित वाद्य एवं संगीत का रोचक वर्णन है।

वस्तुतः छालिक्य में संगीत के लगभग सभी विकसित तत्व उपलब्ध होते हैं। इसके साथ बजाये जाने वाले वाद्य तथा उनके साथ-साथ अभिनय से मिश्रित संगीत एक प्रेरणादायक अद्भुत सामंजस्य का भाव उत्पन्न करता है। ऐसा कहा जाता है कि छालिक्य के जन्मदाता कृष्ण स्वयं थे। इस दृष्टि से 'छालिक्य' को कला के उत्कृष्ट रूप का सही परिचायक मानना चाहिए।¹⁹ महाकवि कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्रम्' में 'छलिक' नाट्य पर महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है, 'छलिक' नाट्य यहाँ पर अभिनयपूर्ण नृत्य के रूप में अभिहित है, इसमें छलिक अभिनय से सम्बद्ध शिक्षा का सन्दर्भ है “आज्ञप्तास्मि देव्या धारिण्या। अचिरप्रवृत्तोपदेशं छलिकं नाम नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति।”²⁰ पुस्तक के प्रथम अंक से उद्धृत उक्त पंक्तियों में नाट्याचार्य गणदास द्वारा मालविका को छलिक नामक अभिनय की शिक्षा दिये जाने की चर्चा आई है। अपनी दासी बकुलबालिका को महारानी धारिणी यह आज्ञा देती हैं कि वह जाकर आचार्य गणदास से पूछ आये कि मालविका ने छलिकाभिनय में कैसी प्रगति की है? 'मालविकाग्निमित्रम्' के द्वितीय अंक में आचार्य गणदास महाराज अग्निमित्र से इस छलिकाभिनय को शर्मिष्ठा द्वारा निमित्त बतलाते हैं—

“गणदास :— देव, शर्मिष्ठायाः कृतिलयमध्या चतुष्पदास्ति। तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमनाः श्रोतुमर्हति देवः।”²¹

ध्यातव्य है कि छलिक नाटक के अन्तर्गत मात्र नृत्य का ही सन्दर्भ नहीं है बल्कि इस प्रकार के नृत्य के

उद्गम पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है, जैसा कि इस नृत्य की प्रणयित्री शर्मिष्ठा मानी गई हैं। मालविकाग्निमित्रम् में परिव्राजिका राजा अग्निमित्र से कहती है :-

देवः शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थम् ।

छलिकं दुष्टप्रयोज्यमुदाहरन्ति ॥^{२२}

अर्थात् देव ! शर्मिष्ठा द्वारा प्रवर्तित चतुष्पादोत्थ छलिक नृत्य को लोग कठिन कहते हैं ।

नारियों के प्रिय खेलों में हास्य विनोदपूर्ण अभिनय को महत्त्वपूर्ण माना गया है जिसके अन्तर्गत शिव और पार्वती का आकर्षक एवं रोचक अभिनय चित्रित है। हरिवंश पुराण में वर्णित वाणासुर के आख्यान से ज्ञात होता है कि शिव-पार्वती को शिव के गणों के साथ, अप्सराओं तथा उषा को क्रीडाओं में निरन्तर तत्पर चित्रित किया गया है। ऐसा लगता है कि प्राचीन भारतीय नारियों में सर्वप्रथम नृत्य करने का भाव शिव एवं पार्वती के आपसी विनोदपूर्ण उत्कृष्ट अभिनय के कारण उत्पन्न हुआ था।

हरिवंश पुराण से ज्ञात होता है कि चित्रलेखा नामक अप्सरा पार्वती का वेश धारण कर महान् योगी शिव को मनाने का रोचक नाटक करती है। यही कारण है कि चित्रलेखा का अभिनय वास्तव में पार्वती तथा सभी अप्सराओं के लिये हास्य का कारण बन जाता है। चित्रलेखा के अनुकरण के फलस्वरूप देवलोक की अप्सरायें पार्वती का वेश धारण करती हैं और पार्वती का वेश धारण करने वाली अप्सराओं को भ्रमित करने के लिये शिव के गण शिव के विभिन्न रूप को धारण करते हैं। स्वयं शिव तथा पार्वती दोनों आकर्षक अप्सराओं तथा गणों के विनोदपूर्ण अभिनय चातुर्य पर बड़ी प्रसन्नता से विस्मित हो जाते हैं।

हरिवंश पुराण में वर्णित वाणासुर के वृत्तान्त के साथ शिव और पार्वती के विनोदपूर्ण एवं प्रेरणादायक अभिनय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने निम्न-निम्न दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है।^{२३}

ऊपर वर्णित समस्त तथ्यों से स्पष्टरूपेण यह कहना उचित है कि प्राचीन भारतीय नारियों की कन्दुक क्रीडा, अक्ष क्रीडा, उद्यान क्रीडा, जल क्रीडा, दोहद क्रीडा, रास क्रीडा, नृत्य क्रीडा आदि लोकप्रिय मानी जाती थी।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि उक्त खेलों के माध्यम से भारतीय नारी स्वस्थ वातावरण में रहकर समाज में मांगलिक एवं प्रसन्नदायक स्थिति उत्पन्न करती थी। इससे यह भी संकेत मिलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में पुरुषों की भाँति नारियाँ भी क्रीडा के क्षेत्र में अग्रणी हुआ करती थीं।

सन्दर्भ :-

- १-स्वप्नवासवदत्तम्, द्वितीय अंक ।
- २-मथुरा म्यूजियम, J. ६१.
- ३-कुमारसम्भव, १ । २६
- ४-ऋग्वेद, १० । ३४ । १३
- ५-वही ।
- ६-तदा वाराणसीसेट्टिनोधीता दिट्ठमाङ्गलिका नाम एकमास द्वेमासवारे न महापरिवारा उद्यानक्रीडनं गच्छति । (जातक ४ । ७३६)
- ७-प्राचीकीडायाम्, ५ । २ । ७४ ।
- ८-धर्मसमाभ्युदय, द्वादश सर्ग, श्लोक-४७, ४८, ४९, ५०, ५१ ।
- ९-हरिवंश, ० २ । ८८ । ५७-५८ ।
- १०-पी०के० आचार्य-डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, भाग १, पृ० १६ ।
- ११-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल-कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन-पृ० ६४-६५ ।
- १२-धर्मसमाभ्युदय, त्रयोदशसर्ग, श्लोक १, पृ० २० ।
- १३-वही, पृ० २०२ ।
- १४-वही, श्लोक १६, २०, पृ० २०४ ।
- १५-साहित्य दर्पण, सप्तम परिच्छेद ।
- १६-मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अंक, श्लोक ७ ।

१७-तास्तु रंक्तिकृतसर्वा रमयन्ति मनोरमम् । गायन्त्यः
कृष्णचरितद्वन्द्वशोपकन्यकाः ॥ हरिवंश०-२।२०।२५

गतं प्रतिष्ठासमरोपगेयं बालायुवानश्च तथैव वृद्धाः ॥
हरिवंश०-२।८६।८३-८६।

१८-एवं सकृष्णगोपीनां च चक्रवालैरलंकृतः ।
शाररीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी ॥ हरिवंश०,
२ । २० । ३५

२०-मालविकाग्निमित्रम्-प्रथम अंक ।
२१-तत्रैव, द्वितीय अंक ।
२२-तत्रैव ।

१९-छालिक्यगान्धर्वगुणोदयेषु ये देवगन्धर्वमहर्षिसंघाः ।
निष्ठां प्रयान्तीत्यवगच्छद्वुद्ध्या छालिक्यमेवं
मधुसूदनेन ॥

23-A. B. Keith, J. R. A. S. 1916 P. 146.
(IV. 3. 110, 114) J. R. A. S. 1916
P. 147.

Hopkins. G. E. P. 55, Fick. Sociology.
P. 188.

भेमोत्तमानां नरदेवदत्तं लोकस्य चानुग्रहकाम्ययेव ।

The alarming rate of population growth in India is due to the complex interaction of a great many factors. The effects of this growth at the national level have long been a matter of serious concern. The values, which are deeply rooted in the system of social relationships and have powerful sanctions, exert strong influence on the acceptance or rejection of an innovation. These values are important determinants of fertility performance in a society and bringing about change in them can only be expected to effect desired behavioural change for a small family norm.

Indian Demographic Situation :-

India is the second most populous and seventh largest country in the world. It has only 2.4 per cent of the world's land but carries the load of 14 per cent of the world's population. Its share of the world's income is not more than 1.3 per cent. Currently 12 million people a year are added to her population—a population equivalent to that of Australia. A child is born every second and a

Of the present century kept the population growth at a low pace. It began to grow last only after 1921 the year known as the great divide in the demographic history of India, when the fertility and mortality patterns started varying considerably. India's population grew only by 15 million in a period of thirty years from 1891 to 1921. But in subsequent thirty years, it increased by 110 million. The decades 1921-31, 1931-41 and 1941-51 witnessed the rapid increase by roughly 28, 40 and 42 million respectively at a steady growth rate of about 1.2 per cent a year between 1921 and 1951. In the decade 1951-61 alone, the population of India by 78 million. It added another 108 million during the last next decade 1961-71. During the last two decades the population grew by more than 20 per cent. If the unabated population growth continues, India at the present annual growth rate is likely to double to double her population before the turn of this century.

FAMILY PLANNING AND VALUES:

A PERSPECTIVE OF POPULATION PROBLEM

—Dr. Ram Kishore Katiyar

The alarming rate of population growth in India is due to the complex interaction of a great many factors. The effects of this growth at the national level have long been a matter of serious concern. The values, which are deeply rooted in the system of social relationships and have powerful sanctions, exert strong influence on the acceptance or rejection of an innovation. These values are important determinants of fertility performance in a society and bringing about change in them can only be expected to effect desired behavioural change for a small family norm.

Indian Demographic Situation :-

India is the second most populous and seventh largest country in the world. It has only 2.4 per cent of the world's land but carries the load of 14 per cent of the world's population. Its share of the world's income¹ is not more than 1.5 per cent. Currently 12 million people a year are added to her population²—a population equivalent to that of Australia. A child is born every second and a

half-nearly 58000 babies a day. High death rates in India till the early part of the present century kept the population growth at a low pace. It began to grow fast only after 1921—the year known as the great divide in the demographic history of India, when the fertility and mortality patterns started varying considerably. India's population³ grew only by 15 million in a period of thirty years from 1891 to 1921. But in subsequent thirty years, it increased by 110 million. The decades 1921–31, 1931–41 and 1941–51 witnessed the rapid increase by roughly 28, 40 and 42 million respectively at a steady growth rate of about 1.2 per cent a year between 1921 and 1951. In the decade 1951–61 alone, the population of India by 78 million. It added another 108 million during to next decade 1961–71. During the last two decades the population grew by more than 20 per cent. If the unabated population growth continues, India, at the present annual growth rate, is likely to double to double her population before the turn of this century.

The relatively fast declining death rate and the persistently high birth rate play the main role in the horrifying problem of population-increase. It is also a very large overall base on which population growth operates. There is a sense of reality in the expectation of a further decline in death rate, and hence for still higher growth rates, because life expectancy at birth which was 32.4 for males and 31.7 for females for the decade 1941-51 has risen to 47.1 and 45.6 in 1961-71 for males and females respectively.⁴ The expectation of life is still likely to increase further to 51.1 and 52.6 in case of males and to 48.8 and 51.6 in case of females by 1971-76 and 1976-81 respectively.⁵ Mortality decline in usually associated with increased longevity and greater number of survivors specially in the childhood and consequently longer reproductive span. It has been estimated by U. P. Sinha⁶ that the size of the total population and the number of currently married females in 1986 will be greater if mortality declines at a faster rate. The projected difference in the total population and the number of currently married females in the procreation ages in 1986, under the two assumptions of mortality decline, comes to 11.4 million and 1.3 million respectively. This extra population together with additional married females experiencing longer fertile union would enhance even the present high rate of population growth.

The real potential for growth, however, lies less in further reduction of mortality than in the present age structure of the population-an age structure that ensures continued growth in the next century. The young and more fecund complex predominate in the population. Nearly 41 per cent of the population is estimated to be in the age group of 0-14 years and 53.7 per cent in 15-59 years in 1976.⁷ In terms of 170 couples per thousand population (wife aged 15-44) entering the eligible group, there is an estimate of 105 million couples constituting the reproductive age group in 1977.⁸ This large base of young population holds the prospects of fairly substantial increments to the population.

Growth Pattern:-

Table I and diagram I present a comparative picture of growth pattern of population and national as well as per capita income, indicating the gravity of population problem. The national income for India in 1975-76 was estimated to be Rs. 21,952 crores at 1960-61 prices, with a per capita income of Rs. 365 9, which was a little higher the level registered in 1970-71. According to "quick estimate" at current prices, it came to be Rs. 60,293 crores in 1975-76, giving a per capita income of Rs. 1004.9. Taking 1960-61 as the base year, the population increased by 38.2 per cent in 1975-76 and the national income by 65.5 per cent. But the per

Table-1

GROWTH PATTERN : POPULATION, NATIONAL AS WELL AS PER CAPITA INCOME

Years	N. N. P.		Index No.		Population Index	Per Capita N. N. P.		Index No.	
	Rs. Crores		Prices			Prices			
	At Current Prices	At 1960-61 Prices	At Current Prices	At 1960-61 Prices		At Current Prices	At 1960-61 Prices		
1960-61	13263	13263	100.0	100.0	100.0	305.6	305.6	100.0	
1961-62	13987	13729	105.5	103.5	103.3	315.0	349.2	103.1	
1962-63	14795	13993	111.6	105.5	104.6	325.9	308.2	106.6	
1963-64	16977	14771	128.0	111.4	106.9	365.9	318.3	119.7	
1964-65	20001	15885	150.8	119.8	109.2	422.0	335.1	138.1	
1965-66	20637	15082	155.6	113.7	111.8	425.5	311.0	139.2	
1966-67	23848	15217	179.8	114.7	114.1	481.8	307.4	157.7	
1967-68	28054	16463	211.5	124.8	116.6	554.4	325.4	181.4	
1968-69	28607	16939	215.7	127.7	119.4	552.3	327.0	180.7	
1969-70	31606	18016	238.3	135.8	121.9	597.5	340.6	195.5	
1970-71	34462	19096	259.8	144.8	124.7	637.0	353.0	208.4	
1971-72	36332	19298	273.9	145.5	127.9	657.0	349.0	215.0	
1972-73	39643	19048	298.9	143.6	130.2	701.6	337.1	229.6	
1973-74*	49396	20143	372.4	151.9	132.9	856.1	349.1	280.1	
1974-75*	58137	20183	438.3	152.2	135.5	988.7	343.2	323.5	
1975-76**	60293	21952	454.6	165.5	138.2	1004.9	365.9	328.8	
								119.7	

* Provisional

1 Crore = Ten million

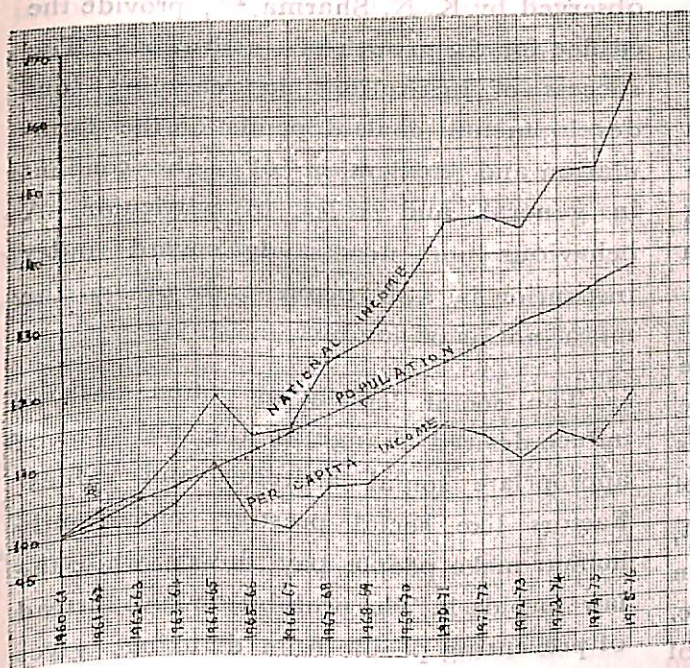
N. N. P. = Net National Product

** Quick Estimate

(National Income)

Source : Central Statistical Organisation, Department of statistics, Ministry of planning, Govt. of India, National Accounts Statistics, 1960-61-1974-75, Oct. 1976, PP 4, 16-17; Quick Estimates of National Product, Saving & Capital Formation for 1975-76, Feb. 25, 1977, PP. 12-13.

DIAGRAM-I



GROWTH PATTERN IN INDIA : POPULATION, NATIONAL INCOME & CAPITA INCOME AT 1960-61 PRICES.

capita income during the same period, showed a meagre increase of 19.7 per cent only. Where over 220 million⁹ people live below subsistence level, the future stability of nation's economy assuming baffling proportions presages acute poverty, squalor, and more disastrous socio-economic implications on Indian masses. These miseries of course have roots in what Myrdal has observed that "the great poverty in India and Pakistan and in large sections of the population in the other South Asian countries must account, at least in part, for the apathy of the

masses and their unresponsiveness to efforts to change attitudes and institutions, spread modern technology, improve hygiene, and so on." ¹⁰

Discussion :-

There seem to be only two ways the problem of rapid population growth, one is the economic development and the other is family planning. India, within the framework of a democratic welfare state committed to raise the standard of living of her people and create conditions for a decent life, has been precursor among the few governments in the world to adopt a national policy for family planning, as an integral part of overall planning for social and economic development. In spite of best efforts, not only is India's per capita income among the lowest in the world, the significant achievements of development planning have been eroded by the phenomenal increase in population. While in the west, rapid population growth accompanied and accelerated socio-economic development; in India, because of lack of modernization, it created a big strain on whatever development there already was. Poverty increased and it caused a further growth in the population. Family Planning, meant for family welfare, essentially emphasises on planning the family size in consistence with the available resources. On a wider scale it envisages

creating a need for the acceptance of measures voluntarily to have a check on unrestricted procreation. The idea is that it should be accepted and practised as a way of life by the masses. The success of which depends on the proper social climate created by effecting change in the existing system of values and outlook of the Indian people.

So far as the legislative measures are concerned, government can only make legal provisions for social change, such as women's right to inheritance, education of adults, amenities for women's employment, raising the age at marriage, liberalization of abortion, abolition of dowry etc. but the implementation and success of these measures matter, to a great deal, on the extent of social receptivity, emerging out of the existing structure of values and attitudes of people. This what happened with regard to the implementation of Hindi as the Indian national language. Hindi as national language was accepted in the Indian constitution but its propagation at the national level is still not there, though nearly 30 years have elapsed. M.N. Srinivas¹¹ has highlighted that "where legislation is ahead of public opinion, the law can not be said to mirror the sentiments of the people" and creates hiatus between what the people expect and what the law intends to bring about. People's conduct is then governed by the recognised "moral rules" which come in

conflict with the law. Moral norms, as observed by K. N. Sharma,¹² provide the edifice for the growth of institutions. The success of institutions in carrying out developmental goals depends on the formulation and inculcation of right conduct in general and roles in particular. A behaviour not necessarily covered under institution is also taken care of by the moral norms of conduct.

The social legislation often fail to induce desired change in the absence of appropriate social attitudes and values. Factors like social prestige and family honour make people pay dowry while the law forbids it. The prohibition law, instead of preventing people from drinking, gives rise to illicit liquor industry at many places. Similarly clashes between conservative high castes and the assertive Harijans often occur in different parts of the country notwithstanding the fact that untouchability was legally abolished in 1955. Legislation can help, to a limited extent, in proscribing the undesirable social practices, however, they can be effective only through social sanctions and support from prevailing values.

Conclusion :-

Man can invent various means and methods of spacing and limitation of births; e.g., chemical, mechanical, surgical, oral and so on. Deterrent disincentives or punitive measures for preventing large families and lucrative

incentives to the family planners may be introduced. But what will be the fate of family planning and the acceptance of small family norm, will largely depend on the values interwoven in the decision-making-process. This calls for an understanding of the complexity of influencing structure of values that determine and regulate the whole realm of human behaviour, and providing treatment to change these values through systematic education in and outside the educational institutions in view of their desired compatibility to the contemporary situations prevailing in a society.

ACKNOWLEDGEMENTS

The author is grateful to Shri B. C. Asthana, Rural Life Analyst and Shri V. N. P. Rai, Senior Research Officer of the State Planning Institute, U. P. Lucknow for their valuable advice and comments.

References :-

- 1-Chandrasekhar, S., Infant Mortality, Population Growth and Family Planning in India, George Allen & Unwin LTD., The University of North Carolina Press, Chapel Hill : 246, 1972.
- 2-Govt. of India, New Delhi, Family Welfare Programme in India (A Brief Account) : 16, May 1978.
- 3-Agarwala, S. N., India's Population Problems Tata McGraw Hill Publishing Co. LTD., Bombay : 41, 1973.
- 4-Govt. of India, New Delhi, Country Statement, World Population Conference, Bucharest, Romania : 56, Aug. 1974.
- 5-Population Projections of Registrar General of India as quoted in the Year Book : 1975-76, Family Welfare Programmes in India : 23.
- 6-Sinha, U. P., "Mortality Decline in India and Population Policy" in Hem Sanwal & Agarwala, S. N. (eds.) Problems and Prospects of Family Planning in India, Population Centre, Lucknow : 92, 1975.
- 7-Planning Commission Expert Committee Estimates on Population Projections as quoted in Year Book : 1975-76, Family Welfare Programme in India : 1.
- 8-Ibid., Year Book : 1976-77.
- 9-Mehta, Balraj, Crisis of Indian Economy, Sterling Publishers Pvt. LTD., New Delhi : 67, 1973; India : 1973, A Reference Annual, Govt. of India, New Delhi : 197.
- 10-Myrdal, Gunnar, Asian Drama : An Enquiry into the Poverty of Nations, The Twentieth Century Fund, New York, Vol. II : 1466-1467, 1968.
- 11-Sriniwas, M. N., "Changing Institutions and Values in Modern India," in T. K. N., Unnithan et al. (eds.) Towards A Sociology of Culture in India : 430-431, 1965.
- 12-Sharma, K. N., "Basic Issues in Rural Development" Presidential Address on the Third Indian Social Science Congress of Indian Academy of Social Sciences, Kanpur, Feb 5-8, 1978 (mimeo.) : 11-12.



The Concept of God-A Scientific Interpretation

— Prof. G. Anand.

No one knows when and how this universe came into existence, but as a result of some explosion reason of which is not exactly known, the earth where we live in, came out from the sun some about two thousand million years before. Since then the earth has started moving round the sun and in due course its surface got cooled. Gradually air and water, two most important life supporting elements, came to stay. Starting from a jelly like living substance and following a very long chain of evolutionary processes the mankind appeared only some fifty thousand years before.

At that time it was difficult for the mankind to protect them from all natural odds. As one of the methods of protection they thought of pleasing some one who has got the power of controlling those natural odds. Out of fear the concept of God came in the mind of the primitive people. To them the worship of God was nothing but an act of pleasing that power capable of controlling natural odds. Even to-day we find the reminiscence of that concept.

With the advancement of science the so called civilized people started depending more on the power of scientific knowledge than on the power of god unknown. In a modern world the concept of god needs a careful re-evaluation and this article is an attempt to that.

God, if exists, can exist only inside a man and not outside. A man has two parts- an internal part where from all ideas of doing good or godget originated and an external part by which all actions can be taken. A human being can be compared with an electrical godget. An electrical godget will be able to work only when it is powered by a supply source. To make proper use of a godget it is got to be properly connected with a supply source. Similary to make proper use of human capabilities the internal sourcing part must be properly linked up with the external executing part. An healthy link with a good motive power can give better output. An idea of God in a man can help in making such link healthy and linking only with good motive sources present internally.

The internal sourcing part of a man is generating both good and bad motives. By proper meditation if the bad motive forces can be converted into good motive forces then doing only good for the whole mankind will be possible at the same time every individual will acquire a sense of joy and satisfaction. The god concept has got this converting power.

or any man it will be easier to convert a bad motive into good if he can find some ideal man with good motives only to follow. As in reality it is difficult to find such ideal man, the presence of such an ideal man or god can be assumed. This assumed god will have all the qualities that any human being wants to acquire. If we can try to mould ourselves in a pattern of god, the whole mankind will be benefited and individuals will have peace and happiness. Thus god is not a superman who is to be worshiped but an ideal pattern into which we have to mould ourselves by practicing only good things.

with the technological advancements the motive of doing good for the whole is increasing *rather than doing good for a group*. This process can be accelerated if the god-sense which is nothing but good sense can be allowed to grow in every man. The idea of doing good can be propagated from man to man if a god concept can be

placed before them all.

We know that the presence of a magnet creates a magnetic field around it. If any magnetizable element is brought near that field the magnetism will be induced in that element and it will try to align itself with the original magnet. In this way if more and more magnetic elements are brought near a very powerful original magnet all of them will be magnetized. This physical phenomenon can help us in understanding the importance of a good like man in inducing goodness to all. By proper practice and meditation any man can acquire that god like qualities. Such a man can produce an influencing field around him and any one coming near to him will be induced with ideas of doing good. In this way the sense of doing good can be propagated from man to man and when many such individuals unite together can do really good for the whole mankind.

Thus god-concept is not against scientific achievements but it helps diverting all scientific activities towards good things only. God-concept can filter out bad things to make room for good things only. To conclude it *can be said* that god is not an object of worshipping but a pattern to which we have to mould ourselves all.



SPACE COMMUNICATION

— Prof. S. S. Boral.

When Abraham Lincoln was assassinated in 1865, it took 12 days for the news to reach Europe. 98 years later when John Kennedy was assassinated, the whole world knew of it immediately; even his funeral was witnessed through T.V. the world over. This was possible because of the communication Satellites.

Satellite Communication started soon after the Russian put the first Satellite into orbit and sent the first man in space. The Americans orbited the first Communication Satellite. Within less than a decade, astronautics developed from crude satellites to space systems of unbelievable sophistication: orbiting the Moon, manned expedition to the moon and landing of Apollo 11 and 12, exploring moon's surface by automatic probes from the earth, probing into Venus and Mars, landing viking Space probes on Mars, sending the Voyager probes to Jupiter, Saturn and beyond the Solar System. Elaborate space probes and complex space ships have been realized. Fabulous amount of knowledge has been gathered about the earth and its environment through scientific space probes

sensing satellites, weather satellites geodesic satellites, surveillance and military satellites.

The phenomenal development in space navigation was associated with equally phenomenal development in rocket propulsion technique, radar and radio navigation methods, radio telescopes and radio astronomy, computer technology to mention only a few.

Man's interest in knowing the space dates back to the time when astronomers started observing stars and planets with light waves. Then came the radio scientists who started observing the earth's near space environment with radio waves and developed the radar. Then came radio astronomers who developed the planetary radars, radio telescopes and radio navigation systems. The planetary radar can now estimate the Astronomical Unit of distance to an accuracy of ± 1 km, the maser and parametric amplifiers can detect from the earth the radiation from a match stick lighted at the distance of planet Mars at about 100 million kilometre. Radio astronomy and space research are inseparably

linked with each other. The demands of radio astronomy stimulated the development of large antenna system and ultrasensitive receivers just prior to the time such facilities were indispensable in space efforts. So similar are the requirements of radio astronomy and space research that much of the time of Sir Bernard Lovell's radio telescope has been devoted to tracking satellites and space probes rather than making astronomical observations.

When space exploration was first conceived the primary motives were adventure, scientific research and national prestige. The advent of satellites indicated that space exploration has other dividends. The potential applications of space research are practically endless. Of all the applications, the most noteworthy are the developments in Space Communication Systems. Every school child is now aware of the use of satellites for long distance communication. We now realized that space communication has changed the picture of our globe in the linking together of continents, not only through TV but also through navigation and traffic control. Space cameras give vital informations on global weathers, on earth resources, forestry, agriculture, fishery, water resources, floods, environmental pollution, etc. Space communication not only involves communication between 2 points on the earth via satellites but also includes communication from an earth station to space and also from one space

station to another. Space Communication is a harmonious blending between space technology and communication technology,

The most important aspect of space communication has affected the common man on earth is satellite communication. Space communication technology has been extensively used for international as well as domestic communications. The yearly rental cost of international voice communication circuit has come down from 32000 dollars to 8000 dollars in course of the last ten years and it is rapidly decreasing. Domestic and regional communications including broadcasting of sound and TV is also being made via satellites by many countries of the world. In International communication 3 geocentric satellites may cover the whole world. In domestic satellite communication system there should be very sensitive receiving system and powerful transmitters to enable installation of cheaper and less complex earth station. The latest generation of international communication satellites will be able to provide 23000 telephone circuits with power handling capacity of about a kilowatt in the S-band (2.5 GHz) and X-band (12 GHz). The S-band is now consider very suitable but X-band is also very prospective.

Data communication and computer interconnection is another field where Satellite Communication will find very useful application in near future both in inter-

national and domestic systems. Satellite Communication will provide reliable communication channels to ships in sea. In the maritime satellite communication system ship terminals will work on 1.6 GHz band and shore stations in the 14 GHz band.

The usefulness of Satellite Communication in navigation and air traffic control is unquestionable. It should be mentioned in this connexion that the successful completion of the SITE programme has proved the importance of the satellite in the field of mass communication in our country. In the field of International Communication in our country there are 2 earth stations— one at Arvi another at Dehradun. The transmit-receive chains for the Dehradun Station has been completely produced indigenously by the I.T.I. After successful implementation of the S.I.T.E. project comes 2 years experiment on S.T.E.P. project (Sat. Telecommunication Expt. Project) with the help of the Franco German Symphonic Satellite. Such systems will provide facilities for instructions to agricultural and rural developments.

Space voyage and space navigation are examples of computer aided communication. One application of space communication is to explore the presence of intelligent beings in the universe. Signalling with radio or laser from a platform outside the earth's atmosphere may be the only methods of communication on the journey to distant space. Quanta of electromagnetic

energy or tireless messengers that will travel through space forever without needing food water or tranquilizers. Electromagnetic probes are the only tools to investigate interplanetary or interstellar space. Let us consider in a simple way the technical requirement for interplanetary or interstellar radio probes.

For Mars-Earth Communication when Mars is nearest to earth 55 million kilometres, let us estimate the smallest power required for exchange of signals. If we agree that the smallest detectable signal is of the order of the noise level in the receiver, then with a modern Maser amplifier at 21 cms (near minimum of the noise curve, 1420 MHz, an equivalent noise temperature of 10^0K may be taken), bandwidth 10Hz, $P_R = KT \Delta f = 1.38 \times 10^{-21}$ Watt. If A_R, A_T are effective aperture of the transmitting and receiving antennas $\frac{P_R}{P_T} = \frac{A_R A_T}{\lambda^2 D^2}$ where D is the communicating

distance. The equation gives $P_T = \frac{P_R \lambda^2 D^2}{A_R A_T}$

For large practical parabolic antennas, $A_R = A_T = 500 \text{ m}^2$ gives $P_T = .75 \times 10^{-6}$ watt or about one microwatt. Modulation of signal will make, however, $\Delta f \gg 10\text{Hz}$ For telemetry 10^2 , for voice 10^3 , for TV 10^8 Hz are needed. For reliability further increase in power is necessary. But the power requirement for communication the solar system is quite modest, and can easily be realized. If in our solar system there were intelligent beings, we would

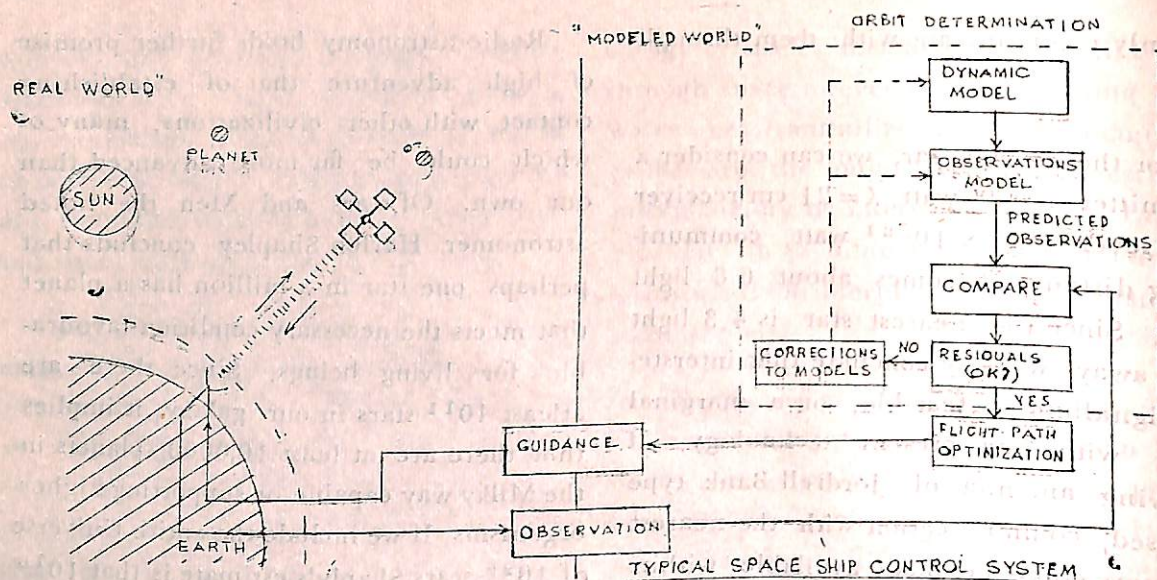
certainly communicate with them through radio.

For the nearest star, we can consider a transmitter of 10^6 watt, $\lambda = 21$ cm receiver noise level 1.38×10^{-21} watt, communicating distance becomes about 6.8 light years. Since the nearest star is 4.3 light years away, we may conclude that interstellar signalling is feasible, on a marginal basis, with our present technology. If receiving antenna of Jodrell Bank type are used, communication with the nearest 100 stars could be made available within the Transmitter receiver combination range.

An intriguing question is sometimes raised: What are the chances that powerful radio signals are actually beamed into space from other planetary systems, either for communication or for research. In such a search the most pertinent step is to select the frequency to which to tune. Without a basis for an intelligent choice the venture would be more futile than hunting for a needle in a haystack. The only real landmark is the radio astronomical spectra 1420 MHz emitted by hydrogen. If other civilizations exist, if they have radio telescope, it is natural they would tune to the hydrogen line. Known as Project OZMA the undertaking was taken by Dr. Drake. He said "It appears probable that this project or a similar one will some day succeed in detecting artificial signals."

Radio astronomy holds further promise of high adventure that of establishing contact with other civilizations, many of which could be far more advanced than our own. Of stars and Men the noted astronomer Harlon Shapley concludes that perhaps one star in a million has a planet that meets the necessary condition favourable for living beings. Since there are at least 10^{11} stars in our galaxy, it implies that there are at least 10,000 planets in the Milky way capable of supporting higher organisms. If we include the entire Universe of 10^{22} stars Shapley's estimate is that 10^{16} habitable planets may exist.

The success of deep space mission depends on the performances and reliability of its communication and navigation systems. The minimum detectable signal or the noise level is governed by the choice of the modulation and demodulation methods, choice of carrier frequency and range. Digital communication holds great promise for space communication. Doppler effect is used for measuring distance and velocity. Guidance is provided during launch, orbital, mid course, return and other phases of the space craft into a single integrated self contained navigation system which may not be controlled from the earth. By the end of this century observing stations may be established on the moon and on Mars and Venus. Exploration of distant space will be through specially designed space craft with special communi-



cation and navigation systems going far beyond the solar system. Space travel in the vicinity of the earth will include manned orbital laboratories space stations, lunar laboratories etc. NASA has recently developed a space shuttle which will permit the same launching rocket being used again. It is fully Computer controlled and can carry 10 astronauts for a month.

For future space travel the communication art must progress at least as fast as the rocket art. The obvious problem is that of distance which will be of the order of $10^8 - 10^{10}$ kms. Reliability is to be enhanced. For distance voyages space craft will have to use nuclear power or plasma generators to the tune of megawatts. At such large distances solar power will not be available to the required amounts. In the year 2000, a communication engineer engaged in communization within solar

system will find (1) A world wide network of terminal stations having large directive antennas which can maintain 24 hour contact with a number of space crafts. Frequencies of the state will be in GHz, power in Megawatts, receiver temperature close to absolute zero. Stations will be connected through wide band data links using satellite relay stations. (2) Space craft equipment on both manned and unmanned craft will have long life and high reliability and light weight. (3) Electronics devices will be invented taking advantage of perfect vacuum and zero gravity conditions in the space systems using large antennas of small mass realised through plasma. (4) Space relay stations and beacons will be established in space in various parts of the solar system. As man goes farther out into space he has to keep contact with the earth with his communication system which will be a major part

to his navigation system. He will use long range radar, he will use TV in various regions of the spectrum. He will report back on earth over wide band channels. There is no doubt that the communication art will advance fast enough to meet all the demands except one and that is - It will not be able to communicate with

signals travelling faster than light. Hence communication to space travellers will have to put up with delays of for instance 10 - 20 minutes for travelling to Mars, several hours for going to Jupiter or Saturn and more than eight years for travelling to the nearest star. ♦♦♦

Relationship Between Available Phosphorus and Some Physico-chemical Properties in Soils.

Prof. L. P. Verma and A. P. Singh

Introduction

Phosphorus is one of the major plant nutrient of limited availability in Indian soils. The fixation of native and applied phosphates is generally considered the main cause of its low availability. The availability of soil P is also related with various physico-chemical properties. Although much information is available regarding its relationship but this type of information is lacking in soils of Faizabad region.

Materials and Methods

To study the relationship between available phosphorus and some important physico-chemical characteristics of soils, 21 surface soil samples (0-15 cm) from Gonda, 18 from Sultanpur, 20 from Pratapgarh, 22 from Barabanki and 24 from Faizabad districts, were collected. The samples, after being brought to the laboratory, were air-dried, crushed with wooden hammer and passed through 2-mm Sieve. It was then thoroughly mixed to make it homogenous and stored in the polythene bottles.

The soil were analysed for available P by methods of Olsen et al (1954). PH was measured with the help of Beckman PH meter and E.C. by Philips conductivity meter in 1:2:5 soil and water suspension. Organic C was analysed by the procedure of walkely and black (1934), CaCO_3 by rapid titration method (piper, 1950). Clay determination was done by hydrometer method as described by Bouyoucos (1936). Results of soil analysis are given in table-1

Results and Discussion

The PH ranged from 7.0 to 8.5 with a mean value of 7.5, E.C. from 0.10 to 0.88 m. mhos/cm with an average of 0.29 m. mhos/cm. CaCO_3 , organic carbon and clay content varied from 0.02 to 1.50%, 0.152 to 0.655%, and 12 to 42%, respectively, and the corresponding mean values are 0.30, 0.305 and 27%. Available phosphorus content ranged from 4 to 24 ppm with a mean value of 9.3 ppm P. Applying the standards of soil testing laboratories, these soils can be rated in low

and medium categories for phosphorus and available P. Iyer and Apte (1967) supplying power. also reported that when organic matter

It is clear from table-2 that E.C. decreases the availability of phosphorus showed on any relation with available P. A gets reduced. CaCO_3 and clay content significant but negative co-relation coefficient exhibits negative relationship at 5% level of significance with available P, which was noticed between available P and pH at 5% level. Kanwar and Grewal shows that as the CaCO_3 and clay content decreased, the P availability raised, and (1960) also found similar results in soils with the increase in these contents, P of Punjab. The perusal of table-2 indicates availability become reduced. close relationship between organic carbon

TABLE - 1
Range and Average of Some Physico-Chemical Properties
And Available P in the Soil.

District	pH (1:2.5)	E.C. (m. mhos/ cm)	CaCO_3 (%)	Organic C (%)	Clay (%)	Available P (ppm.)
Genda	7.0-8.2 (7.3)	0.16-0.72 (0.28)	0.05-0.55 (0.22)	0.212-0.540 (0.328)	12-40 (22)	5-23 (10.5)
Bahraich	6.8-8.2 (7.4)	0.12-0.63 (0.24)	0.05-0.75 (0.30)	0.185-0.575 (0.320)	17-35 (26)	4-20 (9.5)
Sultanpur	7.2-8.4 (7.7)	0.10-0.85 (0.30)	0.10-1.25 (0.35)	0.175-0.466 (0.268)	22-38 (30)	3-17 (8.0)
Pratapgarh	7.2-8.5 (7.8)	0.22-0.88 (0.38)	0.07-1.50 (0.45)	0.152-0.385 (0.252)	18-42 (38)	4-12 (6.5)
Barabanki	7.2-8.2 (7.6)	0.15-0.56 (0.26)	0.05-1.00 (0.33)	0.196-0.620 (0.305)	15-32 (24)	6-24 (10.0)
aizabad	7.0-8.0 (7.5)	0.16-0.60 (0.32)	0.02-0.75 (0.15)	0.180-0.655 (0.356)	14-30 (20)	5-24 (11.5)

TABLE - 2
Coefficient of Co-relation Between Available P and Various
Physico-Chemical Properties

Available P Vs.	'r' value	Significance
pH	- 2.212*	Significant at 5% level
E.C.	+ 0.141	Not significant.
CaCo ₃	- 0.220*	Significant at 5% level
Organic C	+ 0.502**	Significant at 1% level
Clay	- 0.225*	Significant at 5% level

REFERENCES :-

- Bouyoucos, G.I. (1936). Soil Sci., 42:225. F.S. and Dean, L.A. 1954) USDA. Circ., 939:19.
- Iyer, B.G. and Apte, B.G. (1967). Ferti. News, 12:36. Piper, C.S. (1950), Soil and Plant Analysis Academic press, Newyork.
- Kanwar, J.S. and Grewal, J.S. (1960). J. Indian Soc. Soil Sci., 8:221. Walkely, A. and Black, C.A. (1934), Soil Sci., 37:29. ◆◆◆
- Olsen, S.R., Cole. C.V., Watanabe,

Effect of Cycocel (2 Chloro ethyl Trimethyl-e Ammonium Chloride) On Yield and Quality Characters of Soybean (Glycine Max (L.) Merrill)

Ranjeet Singh & O.N. Mehrotra

Introduction :—

Soybean is an important pulse and oil seed crop of the world. It is popular due to its high protein and oil content, due to its uses in production of anti biotics. The largest area of this crop is in the temperate regions. U.S.A., U.K., U.S.S.R., Japan, Korea and China are the main Soybean producing countries. Recently it has been introduced in India also.

Seeing its immense and diversified uses the crop needs special emphasis with regard to acreage and yield in this country.

But due to recent introduction of this crop in this sub continent very little work has been done on this crop in respect of yield and quality. Grain production through the use of fertilizer, better seed, high yielding varieties etc. has reached to its saturation hence some other way will have to find out one way to get increased yield, through the use of chemical growth regulators which have momentum

these days because they have the capacity to govern growth processes and those concerned with reproduction and yield, the present study was undertaken with cycocel [A promising chemical growth regulator]. Kuraishi and Muir [1963] Lamparska [1965], Adeelipe & Ormrod [1966-67] Cycocel [ccc] is one of the important growth regulator which can alter the distribution of dry matter thereby growth and yield.

Materials and Method :—

The experiment was conducted in the division of crop physiology and Biochemistry, C.S. Azad University of Agriculture and Technology, Kanpur during the Kharif [1970-71]. Bragg variety of Soybean was selected for the study, sowing was done in the earthen pots of 12" size filled with loam soil of uniform fertility, manuring was done @ 20kg. Nitrogen & 80 kg. Phosphorus/ha in the form of Ammonium Sulphate and Super Phosphate respectively. Inoculated seeds with bacterial

culture were shown in the pots having adequate moisture for proper germination. After germination only one plant in each pot was allowed to grow and rest were up rooted. The pots were arranged in completely randomised design, having five treatment with Ten replications.

First foliar application of CCC was done at 20 days after sowing while second at 35 days after sowing by Poly Aspea

sprayer at 0 ppm, 500 ppm, 1000 ppm, 1500 ppm, and 2000 ppm following observations were recorded.

1. No. of pods per plant.
2. Weight of pods per plant in gm.
3. Total No. of Grain per plant.
4. Net weight [gm.] of grains per plant.
5. Protein content.
6. Oil content.

Experimental Findings :—

The results obtained with regard to yield contributory and quality characters are given as under :—

TABLE - 1

Table showing the effect of cycocel on the yield contributory and qualitative characters of Soybean (Glycine Max)

Treatment	Yield contributory characters				Quality characters	
	Wt. [gm] of grain per plant	Grain No. per plant	Wt. [gm.] of pods per plants	No of pods per plants	Protein %	Oil Percentage
T ₁ [0 ppm]	12.29	142	17.96	54.00	42.2	20.3
T ₂ [500 ppm]	12.38	156	18.55	58.00	42.4	20.4
T ₃ [1000 ppm]	12.66	158	20.17	61.00	42.4	20.2
T ₄ [1500 ppm]	13.04	161	20.94	67.00	42.3	20.3
T ₅ [2000 ppm]	17.23	221	26.90	88.00	42.4	20.0
G.D. at 5%	0.448	23.72	4.66	4.38	N.S.	N.S.

From the above Table it becomes clear that Among the yield contributory characters, weight of grain per plant, total number of grain per plant, weight of pods per plant No. of pods per Plant were

studied Net weight of grain per plant increases with increasing the concentration of cycocel upto 2000 ppm. It was highest at 2000 ppm [T 5]. Significant differences were noted between treatment and T 5 was

found superior T0 T1 T2 T3 & T4 Total number of grains per plant also gave the similar trend. As regards the other characters viz. weight of pods/plant and number of pods per plant have also increased with increasing the concentrations of cycocel. Among the qualitative characters protein and oil content were influenced very little by cycocel.

These all results conclude that there is a linear relation between yield contributory character of Soybean and the concentrations of cycocel.

Summery and Conclusion :—

Yield contributory characters, viz.

number of grains per pod, number of grains per plant, net weight of grains per plant and weight of pods per plant were significantly increased due to application of cycocel.

Protein content was not at all influenced by CCC but slight increase in oil percentage was observed.

Thus on the basis of experimental findings it can be concluded that CCC at 2000 ppm as foliar spray increased, total number of pods, No. of grains per plant, weight of pods and grains per plant thereby improving grain yield of Soybean [Glycine max (L.) Merrill].

Selected References :—

1. Bachthalar, G. [1966] Results of yield trials on the effect of CCC sprays on the quality and quantity of wheat harvest Medel Rijhsfak Landbwet Gent : 31 : 1117-31.
2. Humphries, E.C. [1968] CCC and cerrals review articles Rothamsted Exp. Sta. Haroenden, Horts. [F.C.A. 91-99].
3. Kuraishi, S & R. M. Muir [1963] Board of action of growth retarding chemicals, Plant Physiology, U.S.A. 38 : 19-24.
4. N. O. Adeelipe & D. P. Ormrod. [1967] Columbia Vancouver, B.C. and A.R. Maurer, Research Station, Canada Deptt. Agric. Agassiz, B. C. Canadian Jour. Plant Sci. 48 : 323-325.
5. Primost, E. [1964] The effect of CCC on the grain and straw yields of winter wheat during 2 years of contrasting weather, Z Acker-U. P. fl Bau 119 : 211-26

I am thankful to Sri R.K. Lal of N.D. University of Agriculture and Technology

Faizabad for their constructive and valuable guidance.



Presence Of Protozoan And Bacterial Fauna In The Alimentary Canal Of *Aulacophora foveicollis* (Lucas) Coleoptera:

Chrysomelidae

—J. P. Singh.

The insect *Aulacophora foveicollis* the red pumpk in beetle, is found generally eating on the green leaves of *Lagaria vulgaris*.

During the histomorphological studies of the alimentary canal number of protozoan belonging to the genus *Gregarina* were found in the hind-gut of *A. foveicollis*. The hind-gut also consisted of bacterial fauna of *Escherichia coli*.

It was found that the protozoan and bacterial fanna had a great effect on the pH of the hind gut of the insect. The pH of the fore-gut of the insect was slightly alkaline or neutral while the pH of the hind-gut was definitely alkaline [SINGH, 1977]. The protozoan *Gregarina* along with the bacteria *E. coli* help in the ammonia production and bacterial decomposition in the alimentary cannal of *A. foveicollis*.

This observation is in strong support of the view that the proeuction of ammonia and similar substances in the hind-gut are responsible for its alkaline nature [HOBSON-1931, WATERHOUSE, 1940]. Thus

the protozoan and bacterial fauna produce an alteration in pH of the alimetary canal alongwith certain other physiological reactions of *A. foveicollis*.

I am very much thankful to Dr. Sohail Ahmad, Department of Microbiology, Aligarh Muslim University, Aligarh for the identificatinn of the bacterial fauna and to the Principal, K. S. Saket P. G. College, Faizabad for providing research facilities.

REFERENCES :—

HOBSON, R. P. [1931] :—

Structure of gut, pH and enzymes; Lucilia Larva [Diptera], J. Exp. Boil, 8 : 109-123.

SINGH, J. P. [1977] :—

Studies on the excietion in *Aulacophora foveicollis* [Lucas] [Coleoptera; Chrysomelidae]; Acidity and alkalinity in the excrements. *Zool Beitrage*, 23 : 37-43.

WATERHOUSE, D. F. [1940] :—

Studies on the physiology & toxicology of blowflies Part-V. The hydrogen-ion concentration in the alimentary canal. *Coun. Sci. Ind. Res. Australia Pamphlet*, 102 : 7-27.

Effect Of Maleic Hydrazide [MH] On Amino Acid Metabolism Of Spirodela Polyrhiza

—Prof S. R. Yadav

Summary :—

Surface sterilized fronds of *spirodela polyrrhiza* were cultured in half-strength Hoagland's solution supplemented with micronutrients in artificial light in the laboratory. It was found that in comparison to the controls treated fronds had lesser number of amino acids in the early periods and greater number of amino acids at the expiry of the experiments, and almost, different amino acids were detected. The optical density of individual amino acids in general was found lesser in treated frond than those of controls. There was decrease in the amount of total free amino acids in both the concentrations but the effect was more severe in 2000 mg/l of maleic hydrazide. It seems that the effect on amino acids metabolism are indirect possibly, by inhibiting nucleic acids and protein metabolism.

Introduction :—

For past two decades, maleic hydrazide has been used as herbicide for killing weeds of crop plants [Craft 1964]. Greulach and Atchinson [1950] reported that prim-

arily maleic hydrazide is a mitotic inhibitor. Stunting of plant treated with maleic hydrazide has been reported by Mc, Ilarth [1950]. A part from its effect on growth it has profound effect on plant metabolism also. Hopkins et. al. [1930] concluded that maleic hydrazide competes for receptor sites of an enzyme concerned in respiration. Yasuda et. al. [1955] observed that plant sprayed with each of two chemicals [2,4-D, and MH] or with combination of two total proteins increased in potato tubers. Coupland and Peel [1971] reported the ability of maleic hydrazide to become incorporated with RNA resulting a change in course of protein synthesis within the plant, may be the basic mode of action of this chemical. Although several workers have made attempt to learn the mode of action of this chemical on plants by studying its effect on different aspects of metabolism the way has not clearly been understood. The present experiment has been conducted to study the effect of maleic hydrazide on amino acid metabolism of *spirodela polyrrhiza*.

Material and Methods :—

Surface sterilized colonies of *spirodela polyrrhiza* were cultured in sterilized half strength Horland's solution supplemented with micronutrients in artificial light in the laboratory as reported earlier [1972] except that here only two high concentrations [1000 mg/l and 2000 mg/l] of MH were used. Treated as well as controlled fronds were collected on different intervals [0, 12, 24, 48, 72, 144 and 216hr] and dried in an electric oven at 60°C for 48 hours after steam killing.

Ten miligrams of dried sample was homogenised and centrifuged at 500 rpm. The supernaent was collected and the valume was reduced to 1.0 ml by evoporating the solvent [Alcohol]. Now the equal amount of the same was spotted on the chromatographic paper [Whatman No. 1]. The solvents used for the separation were n-butenol-acetic acid-water [4 : 1 : 5] in one direction and phenol-water [4:1] in second direction. An equal duration of 18 hr was given for separation and thereafter it was dried in air. An uniform spraying of 2% minhydrin solution was made on chromotograme and was dried at 105° C in an electric oven. Rf value of the spots was calculated with the help of standards of unknown amino acids and density of the spots was noted on a densitometer.

The amount of total free amino acids was estimated by applying the methods of Wiggins and Williams [1955] and expr-

essed in ug/mg of dry weight of the samples.

Results and Discussion :—

The *spirodela* fronds treatad with 1000 and 2000 mg/l of MH had lysine, Cystein, Threonine and Valine and Histidine aspartic acid, serine, Valine proline and tryptophan after 12 hr respectively whereas, untreated fronds contained histidine Citruline, glycine, glutamicacid, alanine, threonine proline tryptophan and isoleucine [table 1] Further analysis revealed that cystein, threonine, methionine and valine after 24 hr; lysine, citruline, threonine and proline after 48 hr and lysine threonine and proline after 72 hr were present in the fronds treated with 1000/l of MH [Table 1]. On the same intervals fronds given 2000 mg/l of MH had lysine, glycine valine, proline and tryptophan; lysine, cysteine, serine, Valine, proline and tryptophan and histidine, aspartic acid, valine and tryptophan whereas, controls had histidine, citruline, glycine, glutamic acid, alanine, threonine, proline and tryptophan; lysine, citruline, proline and tryptophan and lysine proline and tryptophan respectively [Table 1]. In fronds given 1000 and 2000 mg/l. of MH lysine glycine serine, threonine, valine and leucine and histidine aspartic acid, serine, valine proline and tryptophan were present after 144 hr respectively, while histidine arginine, cystein, threonine, methionine and valine were found in untreated fronds

[Table 1]. The samples analysed at the end of the experiments [after 216 hr] revealed that histidine, cystein, serine, methionine, valine and tryptophon in 1000 mg/l; histidine, aspartic acid, glycine, serine, proline and isoleucine in 2000 mg/l and cystein, threonine, methionine, in untreated fronds were present. The optical density of amino acids, in general was found to be lesser in treated than the controls.

The amount of total free amino acids in untreated fronds increased gradually from 9.4 ug to 11.0 ug with the passage of time, but in treated fronds [1000 mg/l] the amount started decreasing from 8.0 ug [after 12 hr] to 5.4 ug [after 48 hr] thereafter an increase was noted which reached up to 9.7 ug [after 216 hr]. Similarly in fronds treated with 2000 mg/l the amount decreased from 7.0 ug [after 12 hr] to 5 ug [after 48 hr] and thereafter increased upto 9.4 ug [after 216 hr] [table 2].

Livingston et al., [1954] found various responses of sugar beet to maleic hydrazide and 2,4-D as reflected in amino acid composition and illustrate in striking fashion the importance of maturity of plants, the dose applied, the time of application and the time of analysis after treatment. A Chromatographic determination of amino acids in roots drug five days after treatment showed a lesser content of alanine, glutamic acid, lysine and tyrosine. At harvest time, 60 days after treatment

the content of amino acid was greater in the sprayed than the control beets; but the free amino acid content of the leaves was unchanged by the treatment. In the present experiment the fronds given maleic hydrazide treatment [1000 mg/l and 2000 mg/l] in comparison to the controls had lesser number of amino acids in the early period [after 12 and 24 hours] and greater number of amino acids at the expiry of the experiments [after 216 hr], and almost different amino acids were found at the two extremities as well as during the intervening periods. The optical density of individual amino acids in general was lesser in treated fronds than those of controls. The amount of total free amino acids in controls increased gradually with the passage of time, but in treated ones a decrease was noted in early periods followed by a slight increasing pattern which remained lesser than the control value even after 216 hr of treatment. In both the concentrations there was a similar trends but the effect was more severe in 2000 mg/l. Coupland and peel [1971] reported incorporation of MH in to RNA and so change the course of protein synthesis which may be the basic mode of this chemical [MH]. Mathur and Yadav have also observed severe inhibition in RNA synthesis of *spirodela polyrrhiza* by the application of high doses [1000 and 2000 mg/l] of MH and they found deficit of protein and inhibition of respiration. It appears that maleic hydrazide

has no direct effect on amino acid metabolism possibly, it may be by affecting nucleic acids and protein metabolism.

Acknowledgement :—

The author thanks to Professor S. N. Mathur for his valuable suggestion and constant encouragement.

REFERENCES :—

- Coupland, D. and Peel, A.J. [1971]. Uptake and incorporation of ^{14}C Pabelled maleic hydrazide to the roots of *Salix Viminalis*. *Physiol. Plant.*, 25 : 141-44.
- Craft, A.S. [1964]. The Chemistry and mode of action of herbicides. Interscience publishers, New York.
- Greulach, V.A. and Atchinson, E. [1950]. Inhibition of growth and cell division in onion roots by maleic hydrazide *Bull. Torrey. Bot. Club.*, 77 : 262-67.
- Hopkins, F.G., Morgan, E.J. and Lutwakman, C. [1938]. The influence of thiol groups on the activity of dehydrogenases. *II Biochem. Jour.* 32:1829-49.
- Livingston, C., Merle, G.P. and Fults, J.L. [1954]. Effect of maleic hydrazide and 2,4 dichloro phenoxyacetic acid in sugar beets *Bot. Gaz.*, 116 : 148-56.
- Mathur, S.N. and Yadav S.R. [1972]. Hill -reactivity and some other metabolic process of *Spirodela polyrrhiza* as effected by maleic hydrazide. In *Biol. Land Plants*, eds. V. Puri, Y.S. Murty, P.K. Gupta and D Banerji, PP. 173-78. Serita Prakashan, Meerut.
- Mathur S.N. and Yadav S.R. Mode of action of maleic hydrazide on respiration of *Spirodela polyrrhiza* *physiol. Plant.* [In press].
- Mc. Ilrath, W.H. [1950]. Responses of Cotton plant to maleic hydrazide. *Amer. J. Bot.*, 37.816-19.
- Wiggins, L.F. and Williams, J.H. [1955]. Amino acid content of West Indies sugar cane. *Jour. Agric. and food Chem.*, 3:341-45.
- Yasuda, G.K., Merle, G.P. and Fults, J.L. [1955]. Effect of 2, 4 dichloro phenoxyacetic acid and maleic hydrazide on potato proteins as shown paper electrophoresis. *Nature*, 176:1029-30.



Spot No.	Ileucine			Control			After 24		
	Amino Acid	O.D.	Amino Acid	O.D.	Amino Acid	O.D.	Amino Acid	O.D.	Amino Acid
1.	Ileucine	0.05	Ileucine	0.05	Ileucine	0.05	Ileucine	0.10	Ileucine
2.	Glutamine	0.06	Glutamine	0.06	Glutamine	0.07	Glutamine	0.05	Glutamine
3.	Glycine	0.10	Glycine	0.10	Glycine	0.20	Glycine	0.25	Glycine
4.	Glutamic Acid	0.18	Glutamic Acid	0.18	Glutamic Acid	0.20	Glutamic Acid	0.18	Glutamic Acid
5.	Alanine	0.11	Alanine	0.11	Alanine	0.10	Alanine	0.23	Alanine
6.	Threonine	0.18	Threonine	0.18	Threonine	0.18	Threonine	0.20	Threonine
7.	Proline	0.28	Proline	0.28	Proline	0.25	Proline	0.12	Proline
8.	Tryptophan	0.12	Tryptophan	0.12	Tryptophan	0.12	Tryptophan	0.12	Tryptophan
9.	Isoleucine	0.12	Isoleucine	0.12	Isoleucine	0.12	Isoleucine	0.21	Isoleucine

Table 2 Ure of total free amino acids per mg dry Spindella Polysaccharide

Treatment	Hours of treatment			
	0	12	24	48
Control	9.2	9.4	9.4	9.5
1000 mg/l	—	8.0	6.5	6.4
2000 mg/l	—	7.0	5.0	6.4

लक्ष्मीतन्त्र—धर्म और दर्शन —डा० अशोक कुमार कालिया प्रकाशक—अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, महात्मा गाँधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ—२२६००१ प्रथम संस्करण, पृष्ठ -बोस+२८१, मूल्य ४०-०० रुपये ।

समीक्षक—डॉ० नवजीवन रस्तोगी, अभिनवगुप्त शोध संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय

आगम साहित्य अथवा तान्त्रिक साहित्य मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त है— [१] वैदिक, तथा [२] अवैदिक। वैदिक आगम पुनः तीन भागों में विभक्त है— [१] शैव, [२] शाक्त तथा [३] वैष्णव। वैष्णव आगमों के भी दो भेद हैं— [१] वैखानस तथा [२] पाञ्चरात्र। पाञ्चरात्र आगमों का साहित्य विपुल है। इसके अन्तर्गत आने वाले तन्त्र-ग्रन्थों की संख्या २०० से भी अधिक है। श्री डर ने अपने ग्रन्थ 'इन्ट्रोडक्शन टु पाञ्चरात्र एण्ड अहिबुध्न्यसंहिता' में २१० पाञ्चरात्र आगमों की सूची प्रस्तुत की है। लक्ष्मी तन्त्र (अङ्गार लाइब्रेरी संस्करण) की भूमिका में सम्पादक पण्डित वी० कृष्णमाचार्य ने इस सूची को और संवर्द्धित तथा परिष्कृत किया है। इतने व्यापक पाञ्चरात्र आगम साहित्य में अहिबुध्न्यसंहिता के अतिरिक्त लक्ष्मीतन्त्र ही सम्भवतः एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें धर्म और दर्शन के प्रायः सभी पक्षों का विस्तृत वर्णन किया गया है। पाञ्चरात्र आगम विषय की दृष्टि से चार प्रमुख भागों में विभक्त है— [१] क्रियापाद, [२] चर्यापाद, [३] ज्ञानपाद तथा [४] योगपाद। लक्ष्मीतन्त्र में इन चारों पादों का समुचित प्रतिनिधित्व है—

चर्यापादक्रियापादौ पादौ च ज्ञानयोगयोः ।

इति नानाविधं तन्त्रं चतुष्पादोपबृंहितम् ॥

लक्ष्मीतन्त्र, ५१२, ३

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी लक्ष्मीतन्त्र के धर्म और दर्शन के अध्ययन के लिये समर्पित एक शोध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दिया गया है। शैव, शाक्त

तथा वैष्णव भेदों में विभक्त आगम-साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुये तथा वैष्णव आगमों के वैखानस तथा पाञ्चरात्र भेदों का विस्तृत उल्लेख करते हुये लक्ष्मीतन्त्र का सामान्य परिचय दिया गया है। अध्याय के अन्त में लक्ष्मीतन्त्र के समय का निर्धारण विस्तार से किया गया है, जिसमें लेखक का अध्ययन और परिश्रम परिलक्षित होता है। द्वितीय अध्याय में लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित ब्रह्म और श्री तत्त्व से सम्बद्ध विषयों पर विचार किया गया है। इस सन्दर्भ में चातुर्ह्य, चातुर्व्यूह, लक्ष्मी का स्वरूप, लक्ष्मी और विष्णु का सम्बन्ध, षडध्व आदि विषयों की विस्तृत चर्चा की गयी है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार सृष्टिक्रम पर तृतीय अध्याय में विचार किया गया है। इसमें जयाख्यसंहिता तथा अहिबुध्न्यसंहिता में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण करने के बाद लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित सृष्टि-प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में जीव-तत्त्व के विषय में लक्ष्मीतन्त्र की धारणा की भीमता की गयी है। जीव का स्वरूप, जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध, जीवों के प्रकार तथा उनके पञ्चकृत्यों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। पाँचवें तथा अन्तिम अध्याय में लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार मोक्ष के स्वरूप तथा मोक्ष के उपायों की विस्तृत विवेचना की गयी है। ग्रन्थारम्भ प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर के 'प्रिफेस' तथा ग्रन्थान्त सन्दर्भ ग्रन्थसूची तथा शब्दसूची रूप परिशिष्ट से होता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग में प्रवक्ता डा० अशोक कुमार कालिया प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के लेखक हैं। डा० कालिया ने श्री वैष्णव धर्म तथा

विशिष्टाद्वैत दर्शन का परम्परागत रूप से विशिष्ट अध्ययन किया है। विशिष्टाद्वैत के प्रमुख तथा प्रख्यात आचार्य श्री वेदान्तदेशिक के साक्षात् शिष्य श्री ब्रह्मानन्द स्वतन्त्र स्वामी द्वारा संस्थापित मैसूर के परकाल मठ के दिवङ्गत तैत्तिरीय पीठाधीश्वर श्रीमद् अमिनवरङ्गनाथ परकाल स्वामी के श्री चरणों में डा० कालिया ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रामाणिक अध्ययन किया है। उसी अध्ययन का सुफल है प्रस्तुत ग्रन्थ 'लक्ष्मीतन्त्र धर्म और दर्शन'। लक्ष्मीतन्त्र में निहित धार्मिक और दार्शनिक तत्वों का उद्घाटन डा० कालिया ने बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

पाचचरात्र आगमों पर सामान्य रूप से तथा लक्ष्मीतन्त्र पर विशेष रूप से अनुसन्धाताओं ने अभी तक

अपनी अभिरुचि का प्रदर्शन नहीं किया था। इस दृष्टि से भी यह ग्रन्थ स्वागतार्ह है। इस ग्रन्थ ने धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विद्यमान एक बहुत बड़े अभाव को दूर किया है। डा० कालिया बधाई के पात्र हैं, जो भारतीय धर्म और दर्शन के इस अछूते अंश को विद्वत्समाज के लिये सफलतापूर्वक प्रकाश में लाये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन संस्कृत तथा भारतीय विद्या के प्रतिष्ठित प्रतिष्ठान अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् ने किया है। परिषद् के अन्य प्रकाशनों के समान ही यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। साज-सज्जा सुन्दर है, मुद्रण निर्दोष है, तथा मूल्य वर्तमान महाधनता को देखते हुये युक्तिसङ्गत है। प्रस्तुत प्रकाशन के लिये परिषद् विद्याप्रेमियों की ओर से साधुवाद के योग्य है।

दिव्यावदान में संस्कृति का स्वरूप — by Dr. Shyam Prakash. pp. 292,
Published by Pragati Prakashan, Agra-3 Price Rs. 25/-

Reviewed by Dr. Mangal Deva Shastri, Ex. Vice Chancellor,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya, Varanasi.

The book is a valuable production. It is evident that the writer has spared no pains in critically studying the text of the Divyavadana from his own point of view and in analysing its contents under the various topics dealt with in the different chapters subdivided into numerous 'Pariccheda's. His treatment of the

different topics, though brief, is always clear and precise and is invariably supported by ample references to the text. The work on the whole is a valuable scholarly contribution. It contains evidence of both critical intelligence and scholarly judgement.

वैदिकस्वर अवधारणा - डा० पारस नाथ त्रिपाठी, शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा दी गई ४०००/- अनुदान की राशि से संदीप प्रकाशन, कटेश्वर पार्क, बस्ती द्वारा प्रकाशित, ३०००/- की राशि से उ० प्र० संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत, मूल्य १६-०० रुपये।

समीक्षक-डा० विद्यानिवास मिश्र, निदेशक, क० मु० हिन्दो तथा भाषा विज्ञान संस्थान, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

श्री डा० पारस नाथ त्रिपाठी ने "वैदिक स्वर अवधारणा" एक जगह शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से स्वर की अत्यन्त स्पष्ट एवं विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इस अध्ययन में स्वरों के प्रकारों और उपप्रकारों का विश्लेषण बहुत सूक्ष्मता के साथ किया गया है तथा विभिन्न प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों के मतों की समीक्षा और उनकी परस्पर विरोधी बातों का समाधान कुशलता पूर्वक किया गया है। वे इस कार्य के लिये बधाई के पात्र हैं।

वैदिक स्वर की मीमांसा में सन्धि का योग महत्त्वपूर्ण है और लेखक ने वैदिक सन्धि की जटिलता को भी सुलझाने की कोशिश की है, जिसके कारण यह अध्ययन वैदिक भाषा के स्वरूप-बोध में विशेष उपयोगी बन गया है। अधिकतर लोग सन्धि व्यापार को हल्, अच् और विसर्ग तक ही परिसीमित कर देते हैं, पर सन्धि व्यापक प्रक्रिया है और उसके

अन्तर्गत काकु (अनुतान) और स्वर (न केवल पदगत स्वर अपितु वाक्य स्वर भी) आते हैं; इस ओर लेखक का ध्यान गया है और उन्होंने स्वर के स्थानान्तरण की प्रक्रिया को सुगम तरीके से सोदाहरण समझाया है।

इस ग्रन्थ की मौलिकता इसकी दो मुख्य उपलब्धियों से विशेष रूप से प्रमाणित है, एक तो इसमें प्रत्येक संहिता के अंकन और स्वर विन्यास का विविक्त रूप से विवेचन हिन्दी में कम से कम पहली बार किया गया है, दूसरे इसमें स्वरों के वास्तविक उच्चारण के ऐतिहासिक विकास पर भी नया प्रकाश डाला गया है।

मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ अत्यन्त उल्लेखनीय कृति है।

शाङ्करदर्शने स्वात्मनिरूपणम् — by Dr. Satya Narayan Mishra, pp. 88. Published by Kusum Prakashan, 504, Rajendra Nagaram, Lucknow. Price Rs. 20/-

Reviewed by Dr. N. K. Devaraja, Research Professor, Philosophy Department, Lucknow University, Ex. Professor, B. H. U., Varanasi.

I have glanced through Dr. S. N. Mishra's short monograph **शाङ्करदर्शने स्वात्मनिरूपणम्** on Advaita philosophy based on Shri Shankaracharya's *Svatmanirupanam*. The author has drawn on quite a few other standard works on the Advaita of Shankara, e.g. the *Pancadashi* and the *Vedantaparibhasa* besides the Bhasyas of

Shankara himself. The monograph has been written in unpretentious, chaste Sanskrit which will be readily intelligible even to younger students.

I commend the book to all those interested in Advaita philosophy, particularly to younger scholars struggling to understand the intricacies of the system.

आवश्यक सूचना

- १- 'कोसल' जर्नल के लिये शोध-पत्र, टिप्पणी, ग्रन्थ-समीक्षा या सूचना हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं में से किसी में भी प्रेषित की जा सकती है।
- २- फुल स्केप कागज के एक ओर स्पष्ट रूप से टंकित शोध-पत्र की दो प्रतियाँ भेजना आवश्यक हैं।
- ३- शोध-पत्र सामान्यतया ८ पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिये।
- ४- शोध-पत्र में उपयोग किये गये ग्रन्थों के संस्करण और पृष्ठादि का स्पष्ट निर्देश होना चाहिये।
- ५- शोध-पत्र में प्रयुक्त शब्दों का व्यय भार लेखक को ही वहन करना पड़ेगा।
- ६- जर्नल के लिये प्राप्त शोध-पत्रों की सूचना तुरन्त भेजी जायगी और प्रकाशनार्थ स्वीकृति की सूचना दो मास के अन्दर चली जायगी। इससे अधिक विलम्ब होने पर लेखक को चाहिये कि वे प्रबन्ध-सम्पादक से पूछताछ कर लें।
- ७- सम्पादक को जर्नल के लिये प्राप्त शोध-पत्रों को स्वीकृत-अस्वीकृत करने तथा सम्पादित करने का पूरा अधिकार होगा।
- ८- प्रत्येक शोध-पत्र के लेखक को जर्नल के उस अंक की एक प्रति, जिसमें उसका लेख प्रकाशित होगा, दी जायगी, किन्तु शोध-पत्र की १५ अनुमुद्रितियाँ, प्रकाशन भार [रु० १५/०० प्रति पृष्ठ की दर से] वहन करने पर दी जायेंगी। इसके लिये प्रबन्ध सम्पादक से सम्पर्क करें। टिप्पणियों और ग्रन्थ समीक्षाओं के लेखकों को जर्नल की एक प्रति निःशुल्क मिलेगी।
- ९ समीक्षार्थ प्रेषित ग्रन्थ की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये।
- १०- ग्रन्थ समीक्षाओं की प्रकाशनार्थ स्वीकृति-अस्वीकृति का अधिकार सम्पादक को होगा।
- ११- जर्नल में जिन ग्रन्थों की समीक्षा प्रकाशनार्थ स्वीकृत नहीं होगी, उन ग्रन्थों की प्राप्ति स्वीकृति मात्र प्रकाशित कर दी जायगी।
- १२- जर्नल के लिये शोध-लेख और पत्रादि इस पते पर भेजना चाहिये-सम्पादक 'कोसल' दि इण्डियन रिसर्च सांसाइटी आफ अवध, १२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद-२२४००१ (उ०प्र०)।

Advisory Board

1. Dr. A. C. Benerji, Prof. and Head, Sanskrit Deptt., Gorakhpur University.
2. Dr. Gopika Mohan Bhattacharya, Prof. & Head, Sanskrit Deptt., Kurukshetra University.
3. Dr. K. C. Pandey, Reader, Zoology Deptt., Lucknow University.
4. Dr. L. P. Pandey, Head, History Deptt., Himanchal Pradesh University, Simla.
5. Dr. Ram Lochan Singh, Ex. Prof. and Head, Geography Deptt., Banaras Hindu University.
6. Dr. Sudhakar Pandey, Reader, Deptt. of Ancient History, Culture and Archaeology Sagar University.
7. Dr. Ram Singh Tomar, Prof and Head, Hindi Deptt., Vishvabharti Shantiniketan.
8. Dr. S. P. Nagendra, Prof. and Head, Sociology Deptt., Gorakhpur University.
9. Dr. Satya Vrat Singh, Ex. Vice Chancellor, Sanskrit University, Varanasi.
10. Dr. Sita Ram Jaiswal, Reader, Education Deptt., Lucknow University.
11. Dr. Tribhuvan Singh, Reader, Hindi Deptt., Banaras Hindu University.
12. Dr. Vikarmaditya Rai, Ex. Prof. and Head, English Deptt., Banaras Hindu University.